विषयसूची ।

भेदविज्ञान ।

स्वानुभव ।

सहजानंद ।

श्री० सेठ घासीरामसाजी भामगढ़ (जि० निमाड़) वाले-खंडवा।

जन्म-
चैत्र सुदी ९ सं० १९२०.

स्वर्गवास-
पौष वदी २ सं० १९८४.

"जैनविजय" प्रेस-सूरत।

माता वोदरवाईजी, धर्मपत्नी श्रीमान् सेठ घासीरामजी और
पुत्री चंदरवाईजी (धर्मपत्नी श्रीमान् सेठ भीखासाजी)
खण्डवा।

संक्षिप्त जीवनचरित्र-
श्री० सेठ घासीरामसाजी-आमगढ़वाले (खंडवा)

हमारे चरित्रनायक सेठ साहबके पूर्वजोंकी जन्मभूमि निमाड़ प्रांतके खंडवा जिलेका एक छोटासा आमगढ़ नामक ग्राम था। आपका जन्म भी इसी गाममें सेठ रायचंद साजीके यहां सं० १९२० में हुआ था। आपके पूर्वज इतने गरीब थे कि उनकें नाम भी अप्राप्य हैं। इसलिये इनका परिचय इनके पितृकालसे करना पड़ता है। आपके पूर्वज और पिताजी भी आमगढ़ ग्रामके आसपासके छोटेर देहातोंमें बैलकी पीठपर गुड़, नोन, तंबाकू आदि बेचकर अपने कुटुम्बका निर्वाह करते थे। सुना जाता है कि सेठ साहबके कुल ७ भाई बहन थे। जिनमेंसे सिर्फ दो बहिनोंके ही नाम प्राप्त है–१ भीकीबाई और २ गजराबाई। दुर्भाग्यसे इन दोनों बहिनोंका भी स्वर्गवास होगया और आप अकेले रह गये।

एक और दुखदाई घटना यह हुई कि बाल्यावस्थामें ही सेठ साहबके माता पिता इस असार संसारसे चल बसे। वैसे तो बाल्यावस्थामें ही आपके लक्षण भाग्यवान पुरुषों कैसे दिखाई देरहे थे।

सेठ साहबका माता पिताका देहांत होजानेसे इन्हें इनके एक मामा अपने यहां लेगये। वहांपर आपका विद्याभ्यास शुरू हुआ। उस समय आजकलकी भांति विद्याका प्रचार नहीं था। अंग्रेजीकी तो बात दूर रही, परन्तु हिन्दीकी पाठशालाओंकी संख्या

भी कम थी। उस समयके लोगोंमें शिक्षा पानेका और दिलानेका उत्साह भी कम था। उस समयकी शिक्षाका उद्देश्य सिर्फ खाता-वहीका लिख देना और व्यावहारिक हिसाब सीख लेना ही था। सेठ साहबने भी उतनी ही शिक्षा प्राप्त की थी। आपने १५ वर्षकी उम्रमें अपने मामाके यहां उनकी दूकानका कामकाज अच्छी तरह सीख दिया था। पश्चात् आप अपने दूसरे मामाके यहां सनावद (हो० स्टे०) आये। यहांपर आपने गल्लेका धंधा सीखा और एक वर्ष बाद अपनी जन्मभूमि भामगढ़को लौट आये।

सेठ साहबका विवाह भी एक गरीब कुटुम्बके भोगांवा नामके देहातके निवासी सेठ साहब रामचन्द्र साजीकी सुपुत्री बोंदरबाईसे हुआ था जैसा कि ऊपर बताया जाचुका है। सेठ साहब गरीब स्थितिके थे, आपका विवाह भी बिलकुल ही गरीबी हालतमें हुआ था। इस पत्नीसे एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम **चन्द्राबाई** रखा गया। यह इकलौती संतान होनेसे गरीबी हालतमें भी इसका लालन-पालन बड़े लाड़प्यारसे हुआ था।

चूंकि उस समय स्त्रीशिक्षाका इतना प्रचार न था, इसलिये सेठजीने इन्हें घरपर ही हिन्दीके अक्षर पहचानना बतला दिया था। चंद्राबाईजीका विवाह भी सेठजीके समान परिस्थितिवाले खंडवा निवासी सेठ तारासाजी हीरासाजीके सुपुत्र भीकासाजीसे हुआ। परन्तु बाईसाहबा दुर्भाग्यवश अपना दम्पति सुख न भोग पाईं और १४ वर्षकी उम्रमें ही वैधव्यने अकस्मात् आ घेरा।

यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि संतान सुखकी प्राप्ति बड़े पुण्य योगसे होती है। खासकर तो श्रीमंतोंके यहां पुत्र पौत्रका नाम विरले पुण्यवानोंके यहां ही देखा जाता है। परन्तु हमारे सेठ साहब संतान सम्पत्तिमें भी गरीब रहे। दामादकी असामयिक मृत्युसे सेठ साहब और सेठानीजी बहुत दुखी हुए।

व्यापारिक जीवन:—सेठसाहब जब मामाके यहांसे अपनी मातृभूमिको लौट आये थे उस समय आपके पास कोई छोटासा भी व्यापार करनेके लिये पूंजी न थी। इसलिये विवश होकर आपको नौकरी करनी पड़ी। ६ वर्ष नौकरी करनेके पश्चात् आपके पास कुछ थोड़ीसी पूंजी अँगुलियोंपर गिनी जाने योग्य होगई थी। तब आपने स्वतंत्र रहकर जीवननिर्वाह करनेका विचार किया, क्योंकि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।"

आपने अपनी पूंजीको जो अपने पूर्वजोंके व्यापारके ही योग्य थी, उस व्यापारमें (बैलपर लादकर नोन, गुड़, तम्बाकू वेचनेमें) लगाया। भाग्यने आपका साथ दिया, आपका यह छोटासा व्यवसाय ही ठीक रूपसे चलने लगा। आपका यह दृढ़ सिद्धांत था कि कभी किसीसे कर्ज नहीं लेना चाहिये। अगर मौका आवे तो भूखे रह लेना अच्छा परन्तु उधार लेकर कभी नहीं खाना। इसीलिये आपने अपना व्यवसाय उस छोटीसी पूंजीसे ही आरम्भ किया था। जब इस व्यवसायमें कुछ थोड़ी प्राप्ति हुई तो आपने घर ही बैठकर दूकान करनेका निश्चय किया और एक छोटीसी दूकान खोल ली।

जिसमें बिक्रीकी चीजें पहलेसे कुछ बढ़ा दी थी। जैसे गुड़, तेल, नोन, आटा, दाल, चावल वगैरह।

यह दूकान चलानेमें भी सेठजीके भाग्यने बहुत ही साथ दिया। आपकी बिक्री अच्छी होने लगी। यह कहनेकी तो कोई आवश्यक्ता ही नहीं कि सेठजीने ईमानदारीसे दुकानदारी की और ग्राहकोंसे लूटमार नहीं की। इसके पश्चात् आपने अपनी दूकानको और बड़ा रूप देनेका निश्चय किया। और कुछ बड़े प्रमाणमें गल्लेका धंधा किया। चूंकि आप गल्लेका व्यापार करना अपने मामाके यहां सीख आये थे इसलिये आपको इस व्यापारमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई और बादमें आपने कांकड़े (सरकी) का व्यापार किया। इसमें आपको भी भाग्यने पूरा साथ दिया और आपके पास धन भी काफी (हजारोंकी संख्यामें) होगया था। आपने फिर महाजनी व्यवसाय लेनदेन शुरू किया। इस व्यापारमें भी आपने कभी किसीसे कठोरता या निर्दयताका व्यवहार नहीं किया। वरन यदि किसी आसामीकी हालत खराब, अर्थात् रुपया न देने योग्य देखते थे तो उसका कर्जा माफ कर दिया करते थे। आपने कभी भी किसी किसानके या आसामीके मालको कुर्क नहीं किया। (माल असबाब नीलाम करवा कर रुपये वसूल न करना) इन्हीं कारणोंसे और सद्व्यवहारसे किसानोंको आपके प्रति प्रेम और श्रद्धा थी। आपको हमेशा ही किसान लोग अपने झगड़ोंका निपटारा करने बुलाते थे और आप पक्षपात रहित निपटारा भी करते थे जो उन्हें मान्य रहता था।

आपने अन्यायसे और बेईमानीसे एक भी पैसा नहीं कमाया और आप सट्टे, लॉटरी आदिसे तो कोसों दूर रहा करते थे। इस समय सेठ साहबके मकान, खेत आदि जायदाद भी काफी हो गई थी और लगभग २५००) के सालाना आमदनी होती थी।

सेठ साहबकी लौकिक उदारता।

सेठ साहबकी अभिलाषा पुत्ररत्नका मुंह देखनेकी बहुत ही तीव्र रही। परन्तु दुर्भाग्यवश आपकी अभिलाषा पूर्ण न हुई। पश्चात् आपने दत्तक पुत्र लेनेका विचार किया था। परन्तु बादमें वह विचार बदल दिया। आपने अपने कुटुंबियोंके साथ भी अपना जो कर्तव्य था वह पूरा किया था। आपके जितने नाते रखनेवाले थे करीबर सब आपकी स्थितिसे गिरी हुई स्थितिके थे। आपने लगभग उन सबके विवाह शादी आदि कार्योंमें यथाशक्ति सहायता की। इसका कारण यह भी था कि आपके सिर्फ एक ही कन्या थी जो कि विवाहके पश्चात् ही विधवा होगई थी जैसा कि पहले बतलाया ही गया है। इसी कारण आपका प्रेम अपने कुटुम्बियोंकी ओर बढ़ गया था।

सेठ साहबका धार्मिक जीवन।

सेठ साहबको जीवनका एक मात्र उद्देश्य धनोपार्जन ही नहीं था, वरन् धार्मिक श्रद्धा भी बहुत थी। आपकी जन्मभूमिमें कोई जैनमंदिर नहीं था, इसलिये आप प्रतिदिन घरपर अलग एक कमरेमें शास्त्र स्वाध्याय करते थे।

आप विना शास्त्र स्वाध्यायके भोजन नहीं करते थे। प्रतिदिन नियमित रूपसे आदिनाथ स्तोत्र और मोक्षशास्त्रका पाठ करते थे। अपने जीवनकालमें सेठ साहबने लगभग सम्पूर्ण भारतवर्षके जैन तीर्थोंकी यात्रा सहकुटुम्ब की थी। किसी२ तीर्थस्थानकी तो आपने दो दो और तीन२ वार भी यात्रा की थी।

सेठ साहबका दान।

सेठ साहबका उद्देश्य धन संग्रह करना नहीं था। आप अपनी सामर्थ्यके अनुसार दान करनेमें भी बिलकुल संकोच नहीं करते थे। आपने अपनी जन्मभूमिमें एक धर्मशाला बनवानेका कहा था। जिसे बनवानेके लिये अब आपकी पत्नी बहुत ही चिंतित रहा करती हैं। और उसे जल्दी बनवानेकी आयोजना होरही है। आपने खंडवासे मामगढ़ जानेवाले यात्रियोंकी पानी पीनेकी तकलीफ देखकर उस सड़कपर एक अच्छा कुआ बनवा दिया है। सेठजीके स्मरणार्थ लगभग सभी विभागोंमें दान दिया गया है। जैसे:—

शिक्षा सम्बन्धी:—

दि० जैन कन्या पाठशाला खण्डवा	१२०००)
दि० जैन स्कूल खण्डवा	४००)
दि० जैन बोर्डिंगहाऊस अलाहाबाद	३००)
दि० जैन विद्यार्थी सहायक कोष इन्दौर	१०१)
अनाथालय बड़नगर	१०१)

तीर्थस्थानोंमें धर्मशाला सम्बन्धीः—

श्री सिद्धवरकूट सिद्धक्षेत्र धर्मशाला	२५००)
उदयपुरमें शम्भुनाथ धर्मशालामें	१०००)
पावागिर	२५०)
पावागढ़	२५०)
जैन धर्मशाला खण्डवा	१४००)

चिकित्सा सम्बन्धीः—

जैन औषधालय खण्डवा	५०००)
महाराजा तुकोजीराव अस्पताल इंदौरमें एक वार्ड	२०००)

तीर्थस्थानोंमें:—	थूबौनजी	१००)
	चंदेरी	५०)
	सोनागिर	२५)
	पावागिर (ऊन)	२५)
	अन्य तीर्थोंमें फुटकर	५००)
	कुल	२६००२)

इस प्रकार सेठ साहबकी खुदके हाथकी नेक कमाईका बहुत कुछ भाग परोपकार, दान धर्म आदिमें लगा है।

ऐसे हमारे चरित्रनायक सेठ साहब घासीरामसाजी सं० १९८४ पोष वदी ३ को ६४ वर्षकी उम्रमें परलोक सिधारे।

उपसंहार—यह लिखनेकी तो कोई आवश्यक्ता ही नहीं है कि हमारे स्वर्गीय सेठ साहबका जो भी उत्कर्ष हुआ वह धीरे२ और क्रमानुसार हुआ। क्योंकि प्रिय पाठकोंको यह बात भलीभांति मालूम हो ही चुकी होगी! हमें सेठ साहबके जीवनकी घटनाओंको देखकर यही सीखना चाहिये कि "संतोषी नर सदा सुखी" और व्यर्थमें अन्याय और बेईमानीसे धन-संग्रहकी इच्छा कभी भी नहीं करनी चाहिये।

पाठक लोग भली भांति जान ही गये होंगे कि नेक कमाईका पैसा नेक कामोंमें ही लगता है और उसका सदुपयोग ही होता है। और हमें भी जिनेन्द्र भगवानसे यही प्रार्थना करना चाहिये कि हमें भी सेठ साहबके समान सद्‌बुद्धि प्राप्त हो और हम भी अपनी परिस्थितिमें रहकर धैर्य पूर्वक कठिनाइयां झेलकर शांति-पूर्वक जीवन यात्रा पूर्ण करें। तथा जिनेन्द्रदेवसे यह भी प्रार्थना है कि वैसी सद्‌बुद्धि सेठ साहबकी धर्मपत्नी वयोवृद्ध श्रीमती माताजी **घोदूरबाईजी** और पुत्री **चन्द्राबाईजी**को प्रदान करके उनकी जीवन यात्रा भी शांतिपूर्वक सफल हो।

वीर सं० २४६३ ज्येष्ठ सुदी १५.

प्रार्थी—**सरूपचन्द जैन**।

भूमिका।

इस जगतमें मानव सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। इसमें मनकी शक्ति बढ़िया होती है। विचार करनेकी, तर्क करनेकी अच्छी योग्यता होती है। इसलिये हरएक मानवको यह विचार करनेकी जरूरत है कि किस तरह वह अपने जीवनको, अपने जीवनके समयको उत्तम प्रकारसे व्यतीत करे। आकुलित, क्षोभित व चिंतातुर जीवन अशुभ हैं। निराकुल, शांत व चिंतारहित जीवन शुभ हैं, इसमें मतभेद नहीं है। जगतके प्रायः सर्व ही प्राणी इन्द्रियोंके विषयभोगसे ही सुख मानते हैं और जन्मसे मरण पर्यंत इसी सुखके लिये अपनी शक्तिके अनुसार उद्यम किया करते हैं तथापि इस सुखसे निराकुल, शांत चिंतारहित नहीं होपाते हैं। क्योंकि इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें इच्छा या तृष्णाकी दाह बढ़ानेका प्रसिद्ध दोष है। जितना जितना इन्द्रियोंका भोग किया जाता है उतनी उतनी विषयभोगकी तृष्णा बढ़ती जाती है। तृष्णासे नवीन नवीन विषयोंके पदार्थोंको चाहता है, उनके लिये उद्यम करता है। उद्यम करनेपर भी जब प्राप्त नहीं होते हैं तब बहुत कष्ट पाता है। यदि कदाचित् प्राप्त किये हुए इच्छित विषय बिगड़ जाते हैं व उनका वियोग होजाता है तो उसे महान दुःख होता है। इस तरह इन्द्रियोंके द्वारा सुखकी मान्यता सत्य नहीं है।

सुख उसे ही कह सक्ते हैं जो निराकुलता देवे, शांति प्रदान करे व चिंताओंको मिटावे। वह सुख आत्मीक सहज सुख है।

आत्माका स्वभाव सुख है। उस सुखके लाभसे बड़ी शांति मिलती है। यह सुख ऐसा बढ़िया है कि चक्रवर्ती व इन्द्रका सुख भी इसके सामने कुछ नहीं है। यह सुख स्वाधीन है, अपने ही आत्माके पास है, जब चाहे तब भोगा जासक्ता है। इसके लिये परपदार्थकी आवश्यक्ता नहीं है। इस सुखमें कोई बाधा या विघ्न नहीं आते हैं। यह सुख अविनाशी है। यह सुख समताभावसे पूर्ण है। यह सुख भोग आत्माकी निर्वलताका कारण है। जबकि इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला सुख पराधीन है, अपना शरीर ठीक रहनेपर व इच्छित पदार्थोंके मिलने पर ही भोगा जासक्ता है। इन्द्रिय सुखके भोगमें बाधा व विघ्न आजाते हैं। अपना शरीर अस्वस्थ होनेपर व प्राप्त चेतन व अचेतन वस्तुके भीतर बिगाड़ आनेपर या न मिलनेपर भोगनेमें नहीं आता है।

इन्द्रियसुख एक दिन नाश होनेवाला है, अपना शरीर छूटनेपर व जिस पदार्थके आश्रय इन्द्रिय सुख था उसके सर्वथा वियोग होनेपर छूट जाता है। इन्द्रिय सुख विना तीव्र रागभावके भोगा नहीं जाता है। अतएव इस भोगमें आत्माके कर्मोका बंध होता है, जिससे आत्मा मलीन होजाता है। इन्द्रियोंके सुखभोगमें समताभाव नहीं रहता है, किन्तु आकुलता व क्षोभ व विकार चित्तमें सदा बना रहता है।

यदि कोई मानव इन्द्रियोंके सुखोंको ही सुख मानके इस ही सुखसे जीवनयात्रा पूर्ण करना चाहे तो वह मरणके समय निराश, तृषातुर व आकुलित होकर ही मरेगा; क्योंकि वह चाहकी दाहको शमन नहीं कर सकेगा तथा इष्टवियोगके दुःखसे अतिशय पीड़ित होगा। इसलिये हरएक बुद्धिमान् मानवका कर्तव्य है कि यह सच्चे

सुखको पहचानकर उसपर श्रद्धा लावे व सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपायको जान लेवे ।

सच्चे सुखका लाभ होजाने पर मानवके भीतरसे यह श्रद्धा बदल जायगी कि इन्द्रिय सुख सच्चा सुख है। इसको यह श्रद्धा होजायगी कि सच्चा सुख आत्माका सहज स्वभावमई सहजसुख है। इन्द्रियसुख सुखाभास है, वास्तवमें दुःखरूप है। इस श्रद्धाके होनेका फल यह होगा कि वह इन्द्रिय सुखोंके पीछे अन्धा न होगा। तथा जबतक पूर्व बांधे हुए मोहनीय कर्मके उदयसे विषयोंकी वांछा नहीं मिटेगी तबतक इन्द्रियोंके भोग भोगेगा। परन्तु सन्तोषपूर्वक भोगेगा, हेयबुद्धिसे भोगेगा, कडवी औषधि पीनेके समान भोगेगा, लाचारीसे भोगेगा, भावना यह रक्खेगा कि कब वह दिन आजावे जब विषय वांछाका रोग न पैदा हो व उसके लिये विषयभोगका इलाज न करना पड़े। यद्यपि यह उपाय विषय वांछाके रोगके शमनका सच्चा उपाय नहीं है तथापि चिरकालकी वासना व आदतसे लाचार होकर इस मोह ग्रसित मानवको इन्द्रियभोगका उपाय करना पड़ता है। उदासीन भावसे अश्रद्धापूर्वक भोगा हुआ इन्द्रिय भोगका सुख तृष्णाकी ज्वालाको नहीं बढ़ावेगा। तथा जितना २ अधिक आत्मीक सहज सुखका लाभ होता जायगा उतना २ यह इन्द्रियभोगसे विरक्त होता जायगा। आत्मीक सहज सुखके भोगके प्रतापसे वह चारित्र मोहनीय कर्म निर्बल पड़ेगा, जो विषयभोगकी इच्छाको उत्पन्न करता है। जब दीर्घकालके अभ्याससे चारित्र मोहनीय कर्म बहुत ही निर्बल होजायगा तब यह बिलकुल इन्द्रिय

सुखसे विरक्त होकर इन्द्रियसुखका भोग नहीं करेगा। और एक साधुपुरुषका बड़ा पवित्र जीवन व्यतीत करेगा।

जबतक चारित्र मोहका ऐसा उपशम न हो कि विषयभोगकी इच्छा बिलकुल न पैदा हो तबतक गृहस्थ जीवन बिताना ही उत्तम है। जिस जीवनमें रहते हुए बुद्धिमान मानव आत्मीक सुखका लाभ भी करता रहे और इन्द्रिय भोगकी चाहको शमन करनेके लिये पूर्ववासित वासनासे न्यायपूर्वक उचित इन्द्रिय भोग भी करता रहे ऐसा गृहस्थ जीवन बहुत अंशोंमें निराकुल जीवन हो सकेगा; क्योंकि यह सच्ची श्रद्धाको रखनेवाला है। इसका गाढ़ प्रेम, इसका दृढ़ विश्वास आत्मीक सहज सुख पर है। यह इन्द्रिय सुखको सुखाभास, आकुलता रूप, पराधीन, तृष्णावर्द्धक व त्यागनेयोग्य समझ चुका है। केवल पूर्व बांधे हुए मोहकर्मके उदयके बलको अपने आत्म वीर्यकी कमीसे न रोक सकनेके कारण यह विषयभोगोंमें प्रवर्तन करता है।

इसका वर्तन न्याययुक्त उचित होगा, यह गृहस्थ अन्यायसे बचेगा, अन्यायसे धनादि सामग्रीको एकत्रित नहीं करेगा, किसीको सताकर, असत्य भाषण कर, चोरी करके व अन्य किसी भी प्रकार दूसरेको कष्ट देकर अपना स्वार्थ सिद्ध न करेगा, यह गृहस्थ विचारवान होगा, जीवनके समयको सफल करेगा। हरएक मानवमें विश्वप्रेम व करुणाभाव होना ही चाहिये। मानव सबसे बड़ा प्राणी है। बड़ा वही होसक्ता है जो सर्वसे प्रेम करे व सर्वकी मदद करे। जो दुःखित हो उनपर दयाभाव करके उनके कष्टको अवश्य निवारण करे। जो यह समझे कि जैसे मैं भूख प्यास मेटना चाहता हूं, निरोगी

रहना चाहता हूं, विद्वान व जानकार होना चाहता हूं, निर्भय व शरणभूत रहना चाहता हूं, वैसे सर्व ही प्राणी भूख प्यास मिटाना चाहते हैं, निरोगी रहना चाहते हैं, ज्ञानी होना उनके जीवनको सफल करनेवाला है ऐसा जानते हैं, सब ही प्राणोंकी रक्षा व निर्भय भाव चाहते हैं, ऐसा समझकर हरएक मानवका कर्तव्य है कि अपनी शक्तियोंका उपयोग आहार, औषधि, विद्या तथा अभय दान देकर विश्वकी सेवामें करें।

जो मानव सहज आत्मीक सुखकी श्रद्धा रखता हुआ उसका स्वाद लेता हुआ, विश्वप्रेमी होता हुआ, करुणाके जलको अपने भीतर बहाता हुआ, शक्तिके अनुसार विश्वकी सेवामें अपनी सर्व शक्तियोंका उपयोग करता हुआ, गृहस्थमें रहकर न्याय व संतोषपूर्वक इन्द्रियोंको तृप्त करता हुआ रहेगा वही मानव आदर्श प्रवृत्तिमार्गका जीवन बिताएगा।

अतएव इस बातकी आवश्यक्ता हरएक मानवको है कि वह सच्चे सहज सुखका उपाय समझ जावे।

सच्चा सुख हरएक आत्माका निजस्वरूप है, स्वभाव है। इस लिये आत्माके सच्चे स्वभावको जाननेकी आवश्यक्ता है।

यदि बुद्धिबलसे विचार किया जावे तो यह आत्मा हरएकको प्रत्यक्ष प्रतीतिमें आसक्ता है। जाननेका काम जो करता है वही आत्मा है। जो जाननेकी क्रिया नहीं कर सक्ता है वही अनात्मा है। एक जीवित मानवमें और मृतक मानवमें यही अंतर है। जीवित मानव स्पर्शद्वारा छूकर, रसनासे चाखकर, नाकसे सूंघकर, आंखसे

देखकर, कानसे सुनकर, मनसे विचार करके पदार्थोंको जान सक्ता है जब कि मृतक मानव इन्द्रियोंका आकार रखते हुए भी इंद्रियोंसे कुछ भी जान नहीं सक्ता है, क्योंकि मृतक शरीरके भीतरसे जाननेवाला आत्मा निकल गया है. केवल जड़ पुद्गल स्कंधोंका संग्रह शरीर पड़ा रह गया है जो सूखी मिट्टीके समान अचेतन है। चेतना गुण या ज्ञानोपयोग ही वह लक्षण है जिससे लक्ष्य आत्माकी प्रतीति हरएक मानवको होसक्ती है। बालगोपाल सबको यह प्रगट है। यह अनुभव है कि मैं जाननेवाला हूं। जिसको यह अनुभव है वही आत्मा है. जिसको यह अनुभव नहीं है वह आत्मा नहीं है, अनात्मा है, जड़ है। आत्माके बिना शरीरके अंग उपांग व इंद्रियोंके आकार न तो कुछ जान सके हैं न कुछ यह अनुभव कर सके हैं कि हम जानते हैं। अतएव न मैं शरीर हूं, न मैं शरीरके अंग उपांग हूं, न मैं इन्द्रियां हूं। मैं तो जाननेवाला पदार्थ शरीर व शरीरके सर्व अवयवोंसे भिन्न हूं। मैं जन्मा, मैं मरा, मैं भूखा, मैं प्यासा, मैं रोगी, मैं बलवान, आदि वाक्य व्यवहारमें भले ही ठीक मान लिये जावें परन्तु निश्चयसे ये वाक्य असत्य हैं क्योंकि मैं तो आत्मा हूं, आत्माका माता पितासे न जन्म है, न मरण है, न वह भूखा होता है, न प्यासा होता है, न यह रोगी होता है, न यह शारीरिक बलधारी है। शरीर ही जन्मता है, शरीर ही मरता है। शरीर भूखा प्यासा होता है, शरीर रोगी व बलवान होता है। शरीरकी अवस्थाको लोक व्यवहारमें अपनी अवस्था कहनेका रिवाज है, परन्तु सच्ची बात यह है कि ये सब शरीरकी अवस्थाएं हैं, आत्माकी नहीं हैं।

आत्माका मुख्य काम तो जाननेका है। शरीरसे मोही होरहा है इसलिये शरीरकी अवस्थाको अपनी जानता है व कहता है। आत्माका स्वभाव ज्ञानस्वरूप है, जाननेका है। जो आत्मा नहीं है उसका स्वभाव अज्ञान स्वरूप है, कुछ नहीं जाननेका है। यह विवेक एक मानवको होना ही चाहिये। इसी विवेकसे अपना आत्मा अलग प्रतीतिमें आता है।

आत्मामें ज्ञान गुण कितना है? इस प्रश्नपर विचार किया जावे तो कहना होगा कि आत्मामें पूर्ण ज्ञान गुण है। जो कुछ जानने योग्य है इसको जो जान सके उसे ही ज्ञान कह सकते हैं। दर्पणकी स्वच्छता तब ही यथार्थ है कि जब वह दर्पण अपने सामनेके सब पदार्थोंको ठीक २ झलका सके। सूर्यका प्रकाश तब ही पूर्ण होगा जब वह अपने मर्यादित क्षेत्रके भीतर प्रकाश कर सके। यदि दर्पणमें कुछ मलीनता होगी तो वह ठीक २ पदार्थोंको नहीं बतलावेगा। यदि सूर्यके ऊपर बादलोंका पर्दा होगा तब वह अपने प्रकाशको ठीक २ नहीं कर सकेगा। इसी तरह आत्माके स्वाभाविक ज्ञानमें सर्व जानने योग्य पदार्थोंको जाननेकी शक्ति है। संसारी आत्माएँ जो कुछ कम जानते हैं उसका कारण उनके ज्ञानके ऊपर ज्ञानको रोकनेवाले कर्म अर्थात् ज्ञानावरकर्मका परदा होना है। ज्ञान हरएक आत्मामें पूर्ण न हो तो ज्ञानका विकास न हो।

ज्ञानकी वृद्धि होनेका, उन्नति होनेका कारण यही है कि ज्ञानकी शक्ति ज्ञानावरण कर्मके परदेके हटनेसे जितनी जितनी प्रगट होती है उतना उतना ही ज्ञान बढ़ता है या उन्नति करता है। ज्ञान कहीं बाहरसे नहीं आता है।

ज्ञानवान समझाते हैं, शास्त्र पढ़े जाते हैं, इनके द्वारा अपना ही ज्ञान बढ़ता है। उनका ज्ञान अपनेमें आवे तो उनका ज्ञान घट जावे सो ऐसा कभी नहीं होता। हजारों शिष्योंको पढ़ानेपर भी अध्यापकका ज्ञान कभी कम नहीं होता है, किंतु अधिक स्पष्ट व उन्नतिरूप होता है। ज्ञान कितना विकास करेगा इसकी कोई सीमा नहीं है। जितना२ अधिक भीतर प्रवेश किया जायगा उतना२ ज्ञान झलकता जायगा। जब सर्व ज्ञानका आवरण हट जायगा तब पूर्ण ज्ञानका प्रकाश चमक जायगा। इससे आत्माको स्वभावसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी मानना ही चाहिये। फिर यह आत्मा स्वभावसे परम शांत व वीतराग है। क्रोध, मान, माया, लोभादि औपाधिक भाव इस आत्माका स्वभाव नहीं है। क्योंकि ये सर्व मलीन भाव हैं और ज्ञानको मन्द करनेवाले हैं। क्रोधादिकी तीव्रतामें ज्ञान भलेप्रकार वस्तुओंका स्वरूप जान नहीं सक्ता। एक छात्र क्रोधाविष्ट हो, मानी हो, मायाचारके भावसे ग्रसित हो, लोभाक्रांत हो, वह अध्यापकके समझाए हुए पाठको नहीं समझ सकेगा। जो छात्र शांत, विनयवान, सरल व संतोषी होगा वह बहुत शीघ्र पाठको समझ जायगा। यह बात बिलकुल प्रगट है। इससे सिद्ध है कि शांत भाव ही आत्माका स्वभाव है। फिर वह क्रोधादिक भाव क्यों होते हैं? इसका कारण आत्माके साथ मिला हुआ एक प्रकारका मोहनीय कर्म है जो मदिराके समान मादक शक्ति रखता है, उसके विपाकसे यह शांत भावके स्थानमें क्षोभित अशांत होजाता है। जैसे पानी स्वभावसे शांत है, परन्तु अग्निके द्वारा सम्मिलित

होनेपर औटने लगता है, खौलने लगता है, अति गर्म पानी हाथ पैरोंको जला देता है। विचार कर देखा जावे तो पानीका स्वभाव जलानेका नहीं है। पानीके साथ अग्निका संयोग हुआ है, इससे वह अग्निका ही काम है। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभकी कलुषता आत्मामें मोहनीय कर्मके संपर्कसे झलकती है, परन्तु यह आत्माकी नहीं है, मोहनीयकर्मकी ही है। आत्मा स्वभावसे पानीके समान परमशांत व वीतराग है।

इसी तरह यह आत्मा परमानंद स्वरूप है, सहजानंद स्वरूप है। जब कोई आत्मा निर्विकारी हो, क्रोधादिसे तमतमाया हुआ न हो, शांत हो तब वह भीतर सुख मालूम करता है। इसका कारण वही है कि जहां निर्मलज्ञान है वहीं शांति है, वहीं सुख है। ये तीनों ही आत्माके गुण हैं, इनको ज्ञान, चारित्र व सुखगुण कहते हैं। इस सुखको मलीन करनेवाला भी अज्ञान व मोह है। अज्ञान व मोहका जब बिलकुल परदा हट जाता है तब यह आत्मा जसे सर्वज्ञ होता है वैसे अनंतसुखी होजाता है। यदि आत्मामें ज्ञानगुण न होता तो अज्ञान नहीं झलकता। शांत गुण न होता तो अशांत भाव नहीं झलकता। इसीतरह यदि सुख गुण नहीं होता तो सांसारिक सुख व दुःखोंका प्रकाश नहीं होता। कुछ प्रसन्न भाव होनेपर सुख कुछ संक्लेशभाव होनेपर दुःख प्रगट होता है। यह मोहकर्मकी विचित्रता है।

यदि कोई मानव बिलकुल मोह छोड़ दे तो वह अपनेको सहजानंदी अनुभव करेगा। यह भी प्रगट है कि परोपकार करते हुए, दान करते हुए, जितना जितना स्वार्थका त्याग किया जाता है उतना उतना

भीतरसे सुख झलकता है। दानी व परोपकारीको सुखकी कामना न होते हुए भी सुख अनुभवमें आता है। यह सुख मोहकी कमीका प्रभाव है। यह आत्मा स्वभावसे पूर्ण सुखी है। इसमें बल भी अनंत है। आत्माके भीतर वीर्य न होता तो शरीर, वचन व मन व इन्द्रियोंके द्वारा कुछ भी काम नहीं होता। जब आत्मा शरीरसे निकल जाता है तब शरीर गिर जाता है, वेकाम होजाता है। आत्मबलके रहते हुए ही शरीरबल काम देसक्ता है। जितनी भी मन, वचन, कायकी क्रियाएं हैं वे केवल आत्माकी प्रेरणासे होती हैं। जिसका आत्मबल विशेष होता है, जो अधिक सहनशील होता है, उत्साही होता है, वह शरीरबलमें कम होनेपर भी, आत्मबलमें तुच्छ किन्तु अधिक शरीर बलधारीको कुश्तीमें—दौड़में जीत लेता है। आत्मबलधारी ही विशेष साहसी होता है, पुरुषार्थी होता है। इसको रोकनेवाला अंतराय कर्म है। मोहके साथमें यह कर्म आत्मवीर्यको ढके हुए है। जितना जितना मोह हटता है, अंतराय कर्म हटता है आत्मवीर्य प्रगट होता है, योगाभ्यासी निर्मोहीका अद्भुत आत्मवीर्य प्रगट होजाता है जिससे अनेक चमत्कारिक बातें की जासक्ती हैं। ऋद्धियें व सिद्धियें सब आत्मवीर्यके प्रकाशसे प्रगट होजाती हैं। आत्मबली किसी भी कामको लगातार बिना खाए पीए करता चला जायगा, एक, दो, चार, पांच, छ, दश, बीस उपवास कर लेगा, कष्टोंके पड़नेपर घबड़ाएगा नहीं। ये सब बातें प्रत्यक्ष प्रगट हैं। यह आत्मा स्वभावसे जैसे सर्वज्ञ है, परम शांत है, परम सुखी है वैसे यह अनंतवीर्य धारी है। फिर यह आत्मा अमूर्तीक है; किसी

प्रकारका वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इसमें नहीं है। इसीसे यह इंद्रियोंके द्वारा नहीं जाना जासक्ता है।

यह एक स्वतंत्र स्वयं सिद्ध पदार्थ है। जड़ मूर्तीकसे इसकी उत्पत्ति नहीं होसक्ती है। जैसा मूल कारण होता है वैसा कार्य होता है। मिट्टीसे मिट्टीके, सुवर्णसे सोनेके, चांदीसे चांदीके वर्तन बन सक्ते हैं, गेहूंसे गेहूंकी, चनेसे चनेकी, जौसे जौकी रोटी तैयार होती है, इसीतरह जड़-मूर्तीकसे जड़-मूर्तीक ही तैयार होगा, जड़से कभी चेतन नहीं बन सक्ता है। दोनों ही मूर्तीक और अमूर्तीक पदार्थ हैं। जड़ और चेतन या पुद्गल और आत्मा अनादि अनंत अविनाशी हैं। हरएक कार्य कारणके विना नहीं होता है। मूल कारण ही कार्यरूप होजाता है। पहली अवस्था कारण है तब आगेकी अवस्था कार्य है। गेहूं कारण है आटा कार्य है। आटा कारण है रोटी कार्य ह। रोटी कारण है रुधिर व मलादि बनना कार्य है। रुधिर कारण है वीर्य कार्य है। वीर्य कारणहै, गर्भस्थिति कार्य है। जड़ परमाणुओंके मिलनेसे नानाप्रकार स्कंध वनते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुरूपी सूक्ष्म व स्थूल स्कंधोंके मूल कारण परमाणु हैं। कार्माण शरीर जिसके द्वारा अज्ञान मोह, सांसारिक सुख दुख व निर्मलता होती है वह भी एक जातिका सूक्ष्म स्कंध है जो परमाणुओंसे बना है।

जड परमाणु व स्कंधोंमें परिणमन करनेकी, बदलनेकी, एक अवस्थासे अन्य अवस्थारूप होनेकी शक्ति है तब ही जगतमें नानाप्रकारके फूल, फल, पत्ते, कंकड़, पत्थर, रत्नादि हैं। मेघ, जलवृष्टि,

आग, दीपक पवन, तूफान, रज आदि दिखलाई पड़ते हैं। एक आमका बीज पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके संपर्कसे फलकर एक महान आमका वृक्ष होजाता है जिसमें अनेक आमरूप फल पक जाते हैं। यह सब परिवर्तन व परिणमन जड परमाणुओंकी ही शक्तिका है। जैसे जड परमाणुओंमें परिणमन शक्ति है वैसे ही इस आत्मामें परिणमन शक्ति है। ज्ञानमई क्रियाका कर्ता आत्मा है। ज्ञानका बढ़ना, शांतिका व सुखका बढ़ना, वीर्यका प्रगट होना या ज्ञानका घटना, शांति सुखका घटना व वीर्यका कम होना यह सब तब ही संभव है जब आत्मामें परिणमन शक्ति हो। उन्नति व अवनति तब ही संभव है जब परिणमन शक्ति हो। साधनसे आत्माका विकाश होना व आत्माकी ज्ञानानन्द शक्तिका प्रकाश होना तब ही संभव है जब परिणमन शक्ति हो। कूटस्थ नित्य जडसे व कूटस्थ नित्य चेतनात्मासे कोई भी कार्य नहीं होसकता है। कार्य करनेवाले तो दोनों ही दिखलाई पड़ते हैं। इसलिये यह आत्मा भी परिणमनशील है तौभी मूल वस्तुरूपसे नित्य है।

जैसे जड परमाणु नाना स्कंधरूप कार्योंमें परिणमन करते हुये भी कभी नाश नहीं होते हैं वैसे आत्मा भी संसारमें नाना प्रकारकी ज्ञानादिकी क्रियाको करता हुआ व एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जाता हुआ कभी नाश नहीं होता है। किसीमें यह शक्ति नहीं है जो किसी भी जगतकी, किसी भी वस्तुका अभाव या सर्वथा लोप कर सके। कोई भी काम किसीके द्वारा ही होता है। हरएक काम करते हुए पिछली अवस्था बिगड़ती है नई अवस्था पैदा

होती है तथापि मूल द्रव्य बना रहता है। गोरससे मलाई बनी, पहली अवस्था बिगड़ी मलाई बनी, गोरसका नाश नहीं हुआ। सुवर्णसे कुण्डल, कुण्डल तोड़के कंकण, कंकण तोड़के कंठी, कंठी तोड़के भुजदण्ड, भुजदण्ड तोड़के हार बनाया। सर्व ही अवस्थामें सुवर्ण बना हुआ है। मकान बन जाता है क्योंकि ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी सब मिल जाते हैं। मकान गिर पड़ता है। ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी अलगर होजाते हैं। यह जगत परिवर्तनशील होनेकी अपेक्षा अनित्य है, क्षणिक है, परन्तु मूल पदार्थोंकी अपेक्षा जिनमें परिवर्तन होता है उनकी अपेक्षा यह जगत नित्य है। यह जगत नित्य अनित्य स्वरूप है, क्योंकि जगतका हरएक पदार्थ नित्य अनित्य स्वरूप है। आत्मा भी मूल स्वभावसे नित्य है, परिणमन शक्ति रखनेकी अपेक्षा अनित्य है। यदि यह कूटस्थ नित्य हो तो इसमें उन्नति व अवनति न हो, एकसा ही बना रहे। यदि यह अनित्य व क्षणिक हो तो दूसरे ही क्षणमें नाश होजावे।

देखा जाता है कि एक बालक विद्या पढ़के युवान होता है। उसके ज्ञानमें बहुत उन्नति हुई है तथापि ज्ञानका धारी आत्मा वही है जो बालक था। संसार व मोक्षकी अवस्था तब ही बन सक्ती है जब आत्मा नित्य बना रहे तथापि परिणमन करनेवाला हो। यह प्रत्यक्ष प्रगट वस्तुका स्वभाव जैसे अमूर्तीक जड़में झलकता है वैसे ही मूर्तीक आत्मामें झलकता है। द्रव्यका स्वभाव ही सत् है अर्थात् जो सर्वदा बना रहे। सत्का स्वभाव है कि वह उत्पाद व्यय ध्रुव-रूप हो। अर्थात मूल स्वभावकी अपेक्षा ध्रुव हो, नित्य हो, तथापि

पहली अवस्थाका नाश होते हुए नई अवस्थाका जन्म हो। अर्थात् वस्तु नित्य होते हुए भी परिणमनशील है वा अनित्य है। जितने अशुद्ध द्रव्य जगतमें हैं जैसे अशुद्ध आत्माएं या पुद्गलके स्थूल स्कंध उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। शुद्ध आत्माओंमें व सूक्ष्म स्कंधोंमें भी इसी तरह अनुमान कर लेना चाहिये। कूटस्थ नित्य पदार्थ बिलकुल बेकार व अनुपयोगी होगा। शुद्ध आत्माओंमें पर पदार्थका सम्बन्ध न होनेसे कोई अशुद्ध परिणमन नहीं होता है, किंतु जैसे शुद्ध निर्मल जलमें कल्लोलें उठती हैं वे सब निर्मल ही होती हैं वैसे शुद्धात्माओंमें जो कुछ परिणमन होता है वह शुद्ध रूप ही होता है। वस्तुका स्वभाव यही है।

आत्माकी सत्ता भिन्न २ है या एक ही सर्व आत्माएं हैं, इस बातको विचारते हुए बुद्धि कहती है कि हरएक आत्माकी सत्ता अलग २ है। एक ही कालमें कोई अज्ञानी कोई ज्ञानी, कोई जीवित कोई मृत, कोई क्रोधी कोई शांत, कोई दुःखी कोई सुखी, कोई रोगी कोई निरोगी, कोई निद्रित कोई जागृत, कोई मूर्ख कोई विद्वान, कोई दाता कोई पात्र, कोई पूज्य कोई पूजक, कोई माता कोई स्त्री, कोई मानव कोई पशु, कोई पापी कोई पुण्यात्मा, कोई अधर्मी कोई धर्मात्मा, कोई बोलनेवाले कोई मौन, कोई ध्यानी कोई भोगी दिखलाई पड़ते हैं। सर्वका ज्ञान, सर्वका अनुभव, सर्वका सुख, सर्वका दुःख भिन्न २ है। एक समान क्रिया करते हुए भी अनेकोंके अनेकरूप भाव होते हैं। सब अपने भावोंके आप ही स्वामी हैं। एक आत्माके शुद्ध होते हुए दूसरा शुद्ध नहीं होता है।

इसलिये अनुभव यही बताता है कि हरएक आत्माकी सत्ता भिन्न २ है। जैसे एक स्थानमें एक लाख गेहूंके दाने रक्खे हों, वे गेहूंकी जातिकी अपेक्षा समान होनेपर भी हरएक गेहूंका दाना दूसरेसे अलग है, इसी तरह आत्माएं स्वभावसे परस्पर एक जातिके व समान होनेपर भी हरएककी सत्ता निराली है। एक अमूर्तीक शुद्ध ब्रह्मके न तो अंश होसकते हैं न वह अशुद्ध होसकता है।

आत्मा अनेक गुणोंका समुदाय होकर भी एक अखण्ड व अभिन्न पदार्थ है। अर्थात् यह अमिट व अखण्ड समुदायकी अपेक्षा एक है, अनेक गुणोंकी अपेक्षा अनेक है। हरएक गुण आत्मामें सर्वांग व्यापक है इसलिये ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञान-स्वरूप है, शांतिकी अपेक्षा शांति स्वरूप है, आनन्दकी अपेक्षा आनन्द स्वरूप है, तथापि इनका पिंड है इससे एक स्वरूप है। जैसे एक आमका फल एक है तोभी वर्ण गुणकी अपेक्षा हरा है, गंधकी अपेक्षा सुगंधित है, रसकी अपेक्षा मीठा है, स्पर्शकी अपेक्षा चिकना है। वस्तुमें एक साथ अनेक गुण होते हुए भी व उनका काम या परिणमन एक साथ होते हुए भी हम अपने मुखसे एक साथ वर्णन नहीं कर सक्ते। हमको एकके पीछे दूसरा कहना पड़ेगा। शब्दोंमें शक्ति नहीं है कि अनेक गुणोंको या अवस्थाओंको जो एक साथ होरही हैं कह सकें। यद्यपि ज्ञानमें यह शक्ति है कि वह उन सर्वको एक साथ जान सक्ता है इसलिये वस्तु किसी अपेक्षा अवक्तव्य है, किसी अपेक्षा वक्तव्य है। क्रमसे कहे जानेकी अपेक्षा अवक्तव्य है। इस तरह वस्तुके स्वभावको दूसरोंको समझानेके लिये अपेक्षावादका शरण

ग्रहण करना पड़ता है। इसीको **स्याद्वाद** कहते हैं। स्यात्के अर्थ हैं किसी अपेक्षासे, वादके अर्थ हैं कहना। आत्मा स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है, स्यात् भावरूप है, स्यात् अभावरूप है; स्यात् एक है, स्यात् अनेक है, स्यात् वक्तव्य है, स्यात् अवक्तव्य है। यह ज्ञान हमको होना चाहिये। स्वभावकी अपेक्षा नित्य है, परिणमनकी अपेक्षा अनित्य है।

अपनी सत्ताकी अपेक्षा भावरूप है। परकी सत्ता आत्मामें नहीं है इससे आत्मा अभाव स्वरूप है। आत्मा एक अखंड अमिट द्रव्य है इससे एक है, अनेक गुणोंका समुदाय है इससे अनेक है। आत्मा ज्ञानद्वारा अनुभवगोचर है इससे अवक्तव्य है। क्रम क्रमसे समझाया जा सक्ता है इससे वक्तव्य है। यह संसारी आत्मा एक ही कालमें शुद्ध भी है अशुद्ध भी है। जैसे गंदला पानी एक ही कालमें निर्मल भी है, मलीन भी है। जब पानीको मिट्टीके संयोगकी दृष्टिसे देखा जाता है तब यह मलीन दिखता है। जब उसीको उसके मूल स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाता है तब वह निर्मल दीखता है। इसीतरह आत्माको जब कर्मोंके मैलसे मिश्रित देखा जाता है तब यह अशुद्ध दीखता है। जब इसे मूल स्वभावकी अपेक्षा देखा जाता है तब यह शुद्ध दिखलाई पड़ता है। यदि एक ही बातको मानें तो हमारा पुरुषार्थ निष्फल होजायगा। यदि अशुद्धको सर्वथा अशुद्ध ही रहनेवाला मान लें तो वह कभी शुद्ध नहीं होसक्ता तब प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। और जो उसे सर्वथा शुद्ध ही मान लें तो भी उपाय बेकार होगा। इस प्रकार अपने

आत्माको जानना चाहिये कि यह कर्म पुद्गल जड़ स्कंधोंके संयोगसे मलीन है, अशुद्ध है, संसारी है, रागीद्वेषी मोही है, अज्ञानी है, नानाप्रकारकी उपाधियोंसे ग्रसित है, परन्तु मुल स्वभावसे यह शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है, शांति स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है, अमूर्तीक है, नित्य अविनाशी है, तथापि परिणमनशील है।

मेरा आत्मा अन्य आत्माओंसे भिन्न है। तथा मेरा आत्मा इस समय मेरे ही शरीरभरमें व्यापक है। आत्मामें यद्यपि लोक-व्यापी होनेकी शक्ति है तथापि जैसे दीपकका प्रकाश छोटे स्थानमें उतना फैलता है बड़े स्थानमें अधिक फैलाता है वैसे आत्मा मक्खीके शरीरमें मक्खीके आकार व्याप्त है, हाथीके शरीरमें हाथीमें आकार व्याप्त है। बालक मानवके शरीरमें बालक समान व्याप्त है, युवा-नमें युवानके शरीर प्रमाण व्याप्त है, यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। दुःख सुखका अनुभव सर्वांग शरीरमें होता है। यदि एक साथ हाथ पैर मस्तक भुजा आदिमें शस्त्रोंका प्रहार किया जावे तो सर्वांग उनका वेदन होगा और शरीरसे दुर प्रहार करनेपर नहीं होगा। इसलिये आत्मा न तो एक बिंदु प्रमाण है और न सर्वव्यापी है किंतु शरीर प्रमाण आकार धारी है।

सहजानंद व सच्चे सुखके लाभके लिये उचित है कि हम वहीं इसको खोजें जहां यह है। सहज सुख अपने आत्माका स्वभाव है। इसलिये पहले यह उचित है कि **भेदविज्ञानके** द्वारा हम पर पुद्गलसे मिले हुए होनेपर भी अपने आत्माको सर्व प्रकारके पुद्गलोंसे, आठ ज्ञानावरणादि कर्मोंसे, शरीरादिसे, रागादि भावोंसे, आकाश,

काल, धर्म, अधर्म द्रव्योंसे, अन्य सर्व आत्माओंसे भिन्न जानें। इसके एकाकी स्वभावका, इसके द्रव्य स्वभावका, शुद्ध स्वभावका चिंतवन करें। जैसे जोंहरीका शिष्य असत्य रत्नको सत्य रत्नसे भिन्न२ वार-वार विचारता है, रत्नका स्वभाव कांच खंडसे अलग है ऐसा मनन करता है। एक किसानका पुत्र धान्यके भीतर चावलको भूसीसे अलग विचारता है। तेलीका पुत्र तिलोंमें तेलसे अलग भूसीको जान कर विचार करता है। सुनार सुवर्ण चांदीके मिले हुए आभूषणमें सुवर्णको चांदीसे जुदा जानता है, प्रवीण वैद्य एक गुटिकामें पड़ी हुई अनेक दवाइयोंको अलग२ पहचानता है, उसी तरह तत्वखोजीको अपने आत्माका भिन्न स्वभाव एकांतमें बैठकर नित्य मनन करना चाहिये। भेदविज्ञानके लिये सवेरे, दोपहर व सांझको एकान्तमें बैठ सामायिकमें हरसमय ४८ मिनट लगाना चाहिये। यदि थिरता न हो तो कम भी समय अभ्यास करे परन्तु एक, दो या तीन समय जैसा संभव हो आत्माका स्वरूप ध्यानमें लेकर परसे भिन्न मनन करना चाहिये। भेद विज्ञानकी दृढ़ताके लिये नित्य पांच काम और करना चाहियेः—

१—शुद्धात्मा या परमात्मा देवकी भक्ति तथा **पूजा**। उनके शांत स्वरूपको उनकी ध्यानाकार मूर्तियोंके द्वारा देखकर उनका स्तवन गुणगान स्वरूप विचार करना चाहिये। जल चंदनादि आठ द्रव्योंके द्वारा आठ प्रकारकी भावना भानी चाहिये। (१) जन्म जरा मरण दूर हो। (२) भवाताप शांत हो। (३) अक्षय गुण लाभ हो, (४) काम भाव विनाश हो, (५) क्षुधारोग दूर हो, (६)

मोह अंधकार टल जावे, (७) आठों कर्म जल जावें, (८) मोक्षफल प्राप्त हो। यह पूजन भावोंमें अपने शुद्ध स्वरूपके मननके लिये बहुत उपकारी है, शुद्ध पद ग्रहण करने योग्य है, संसार दशा त्यागने योग्य है। यह भाव प्रतिदिन दर्शन पूजन करनेसे दृढ़ होता जायगा।

२-ऊपर जो कुछ कथन किया गया है उसका विवेचन जैन शास्त्रोंमें भलेप्रकार है इसलिये जैन शास्त्रोंका **स्वाध्याय** या पठन-पाठन करते रहना चाहिये। व्यवहार नयसे आत्माकी अशुद्ध पर्यायोंके जाननेके लिये श्री उमास्वामी कृत श्री तत्वार्थसूत्र, श्री नेमीचंद्र कृत द्रव्यसंग्रह, पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार जीवकांड व कर्मकांड, मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरंड श्रावकाचार, अमितिगति श्रावकाचार, तत्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, त्रिलोकसार, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, पद्मपुराण आदिका तथा निश्चयनयसे आत्माका द्रव्यस्वरूप जाननेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसारका, पूज्यपाद कृत समाधिशतक व इष्टोपदेशका, योगेन्द्र कृत परमात्मप्रकाशका, शुभचंद्र कृत ज्ञानार्णवका, अमितिगति कृत तत्वभावनाका, इत्यादि अध्यात्मीक ग्रंथोंको पढ़ना चाहिये। घंटा आधघंटा थिरतासे बैठकर दोनों प्रकारके ग्रंथोंको पढ़ना चाहिये। आगमसेवा मनसे विकारोंको हटाती है-ज्ञानकी निर्मलता कराती है।

३-श्री निर्ग्रंथ गुरु महाराजसे या अन्य विद्वान विरक्त त्यागीसे या विशेष ज्ञानी श्रद्धावान धर्मात्मासे **तत्वोपदेश श्रवण** करना चाहिये। सुननेसे बुद्धिका दोष मिटता है, पदार्थ निर्मलरूपसे भासता

है। शास्त्रसभाका अवसर मिलाना बहुत आवश्यक है। गुरुसे, अनुभवीसे प्रश्न करके वस्तुस्वरूप सुनना भेदविज्ञानका प्रबल उपाय है।

४—**संयम** सहित दिनरातमें वर्तना चाहिये। समयपर हरएक काम करना चाहिये। समयपर शयन, समयपर जागृत होना, समयपर मल मोचन, समयपर भोजन, समयपर धर्मसेवन, समयपर व्यवहार-कार्य, सर्व काम समयके अनुसार उसी तरह करना चाहिये जैसे सूर्यका उदय अस्त नियमित होता है। खानपान शुद्ध जीवजंतुकी हिंसारहित करना चाहिये। सादा शरीर-पौष्टिक आहार करना चाहिये। कोई मादक पदार्थ व गरिष्ट, अनिष्ट, रोगकारक पदार्थ नहीं खाना चाहिये। व्यायाम करके उत्साही रहना चाहिये, वीर्यरक्षाका या ब्रह्मचर्यका विशेष यत्न रखना चाहिये। अनर्थके कामोंसे बचना चाहिये। इसलिये जूआ, मदिरा, मांस, चोरी, शिकार, वेश्या व परस्त्री इन सात व्यसनोंसे बचना चाहिये। अपने भावोंके अनुसार इन्द्रियसंयम व प्राणसंयमकी वृद्धिके लिये मुनिका, ऐलक क्षुल्लकका, ब्रह्मचारीका या श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे किसीका चारित्र पालना चाहिये। संयमी स्त्री पुरुष ही सहजानंदको सुगमतासे पासकेगा।

५—नित्य प्रति **दान** देकर आहार करना चाहिये। धर्मात्मा पात्रोंको भक्तिपूर्वक व दुःखितोंको दयापूर्वक दान देना चाहिये। परोपकार वृत्ति रखकर आहार, औषधि, अभय, ज्ञानदान करना चाहिये। गृहस्थीको अपना धन चारों दानोंके प्रचारमें लगाना चाहिये। त्यागीको ज्ञानदानका प्रचार करना चाहिये। सर्व प्राणीमात्रका हित हो ऐसा विचार रखकर परोपकार भावका आचरण करना चाहिये।

परहितके लिये कष्ट भी सहन करना चाहिये, आत्महितकी रक्षा करते हुए परहितमें प्रवर्तना योग्य है।

सर्व जीवोंपर मैत्रीभाव, गुणवानोंपर प्रमोदभाव, दुःखितोंपर करुणाभाव, विरोधियोंपर माध्यस्थभाव रखना चाहिये। इसतरह भेदविज्ञानका अभ्यास करते रहनेसे जब दृढ़ अभ्यास होजायगा तब स्वानुभव होनेका अवसर होजायगा। स्वानुभव होनेसे ही सहजानन्दका लाभ होता है। इसीलिये इस पुस्तकमें पहले भेदविज्ञानके करानेके लिये भिन्न २ पाठ हैं, फिर स्वानुभवके प्रेरक पाठ हैं, फिर सहजानन्दकी रमणता करानेके पाठ हैं, इसतरह तीन भाग हैं। ये सर्व उन ही लेखोंका संग्रह है जो जैनमित्रमें वीर सं० २४६०, २४६१ व २४६२ में प्रगट होचुके हैं। ये सब अमृतके भरे हुए प्याले हैं। शब्दोंकी स्थापना दीर्घकाल तक रह सक्ती है। इन प्यालोंमेंसे चाहे जिस प्यालेको पिया जायगा आनंदका स्वाद आयगा, तौभी इन शब्दोंके संगठनरूप प्यालोंका मसाला कभी कम नहीं होगा।

सहजानंदके लिये श्री जैन तीर्थंकरोंका व उनके अनुयायी जैनाचार्योंका बहुत बड़ा उपकार है। उन्होंने वस्तुका यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा प्रतिपादन किया है। जिनवाणीके साहित्यके पढ़नेमें सन्तोष होता है। तथा प्रत्येक तत्वखोजीको बहुत सन्तोषपूर्वक आत्मीक तत्वका ज्ञान होजाता है। जगतके हरएक प्राणीको आत्मीक ज्ञानके हेतु जिनवाणीका सूक्ष्मदृष्टिसे अध्ययन करना उचित है। इसमें वस्तुका स्वभाव अनेक अपेक्षाओंसे बताया है, स्याद्वादनयसे समझाया है। आत्मा अशुद्ध क्यों है व कैसे होता है इसका विवेचन

बहुत सुन्दर कर्मोंके बंधका वर्णन करके उन कर्मोंके बन्धके भावोंको, कर्मोंके फल देनेको, उनको रोकनेके भावोंको व उनके क्षय होनेके भावोंको—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंमें बहुत ही उपयोगी बताया है।

जैनसिद्धांतमें अहिंसा व परोपकारका सर्व प्राणी मात्रके हित-रूप विश्वप्रेमका कथन किया है। गृहस्थ व साधुके लिये भिन्न २ प्रकारका आचरण बताया है जिससे एक गृहस्थ सर्व ही लौकिक काम करता हुआ, देश प्रबन्ध करता हुआ, देशकी रक्षा दुष्टोंसे करता हुआ, दुष्टोंको शस्त्रसे भी लाचार हो निवारण करता हुआ, येनकेन प्रकारसे धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थको भलेप्रकार सिद्ध कर सक्ता है। भोजनपानकी शुद्धि रखनेका ऐसा बढ़िया विवेचन है जिससे कोई प्राणी रोगोंमें नहीं फंसकर स्वास्थ्यलाभ करता हुआ उन्नति कर सक्ता है। यदि निष्पक्षभावसे देखा जावे तो यह कहना असंगत न होगा कि जैन तत्वज्ञान आत्मज्ञानकी कुंजी है। अन्य दर्शनोंके शब्द व वाक्योंको ठीक २ वैज्ञानिक ढङ्गसे समझनेके लिये भी यह कुंजी है।

हरएक तत्वप्रेमीको जैन सिद्धांत पढ़ना ही चाहिये। अन्य दर्शनोंके ज्ञानके साथ जैन सिद्धांतका ज्ञान होना अपूर्व तत्वकी ज्योतिका प्रकाश कर देगा।

सहजानंदके लिये आत्माके स्वरूपमें प्रवेश करनेकी जरूरत है। सर्व अन्य भावोंसे मनको रोकनेकी जरूरत है। अन्य दर्शनोंका भी अभिप्राय यही है कि राग द्वेष मोह छोड़कर आत्मध्यान किया

जावे। उनके मार्ग प्रकाशमें और जैन मार्ग प्रकाशमें जो अंतर है उसको देखते हुए जैन तत्वज्ञानका विवेचन चित्तको अधिक संतोष-दायक प्रगट होगा इसलिये हरएक दर्शनके जाननेवालेको जैन सिद्धांतका पठन-पाठन जरूरी है।

बौद्ध पाली साहित्य-में लिखा है (संयुक्तनिकाय चुंदो १२)

तस्मादिह आनन्द अत्तदीया विहरथ अत्तसरणा।
अनण्णसरणा धम्मदीया धम्मसरणा अनण्णसरणा॥

भावार्थ-इसलिये हे आनन्द! आत्मारूपी दीपमें विहार कर। आत्मा ही शरण है दूसरा कोई शरण नहीं है। धर्म ही द्वीप है वा धर्म ही शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है।

निर्वाणको अजात, अमृत, शाश्वत, आनंदमई, परमशांत माननेसे शुद्धात्माका स्वरूप निकल आता है। क्षणिकवाद नहीं रहता है। निर्वाणका स्वरूप है-**मज्झिमनिकाय** अरियपणिासन सूत्र (२६)

निव्वानं परियेसमानं अजातं अनुत्तरं योगखेमं निव्वानं अज्झगमं अजरं अव्याधिं अमतं अशोकं असंकिट्ठं॥
अधिगमो मे अयं धम्मो गंभीरो दुद्सो दुरनुबोधो सतो। पणीतो अनक्कखचरो निपुणो पंडित वेदनीयो॥

भावार्थ-जो निर्वाण खोजने योग्य है वह अजन्मा है, अनुपम है, योग द्वारा प्राप्य है, अजर है, अरोग है, मरण रहित है, अशोक है, क्लेश रहित है। मैंने वास्तवमें इस धर्मको जान लिया। यह धर्म गंभीर है, दुर्गम है, शांत है, उत्तम है, तर्कके अगोचर है, पंडितोंसे अनुभवने योग्य है।

बौद्ध साहित्यमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको लेकर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञानको ही संसार कहा है। इसके त्यागका नाम ही निर्वाण है, या निर्वाणका अनुभव है, आत्मध्यानकी महिमा है, परन्तु आत्माका भिन्न स्पष्ट स्वरूप प्रतिपादित नहीं है, इससे बौद्ध लोग आत्माके अस्तित्वका अभाव मान लेते हैं तथा किसतरह संसारी आत्मा अशुद्ध है व कैसे परसे छूटेगा इसका वैज्ञानिक ढंगसे निरूपण जैसा स्पष्ट जैन सिद्धांतमें है वैसा नहीं है। इसलिये बौद्ध शास्त्रज्ञातावोंको अपने ही पाली ग्रन्थोंके विवेचनको स्पष्ट व साफ समझनेके लिये जैन तत्वज्ञानका अध्ययन जरूरी है।

ब्राह्मण धर्मका मुख्य ग्रंथ **भगवद्गीता** है। इसमें भी सहजानंदका उपाय आत्मध्यान व योगाभ्यास ही मिलेगा। गीतामें कहा है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियं।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः॥ २१।६॥

भा०—जहां यह योगी इन्द्रियोंसे परे ज्ञानमय परम सुखको अनुभव करता है फिर वह निज तत्वमें स्थित होता हुआ उससे चलायमान नहीं होता है।

अपनेसे ही अपना उद्धार होगा यह भी कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नाऽत्मानयवसीदयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५–६॥

भावार्थ—अपने आत्माका उद्धार अपनेसे करे, अपने आत्माको दुःखित न रक्खे। आत्मा ही आत्माका मित्र है। तथा आत्मा ही अपना शत्रु है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १०–६ ॥

भावार्थ–मनको जिन्हें योगी वासना रहित व परिग्रह रहित होकर एकांतमें अकेला बैठा हुआ निरन्तर आत्माका ध्यान करे ।

गीताके जाननेवालेको जैन तत्वज्ञान बहुत सहाई होगा । गीतामें सांख्य और वेदांत दर्शनके अनुकूल विशेष कथन है । दोनोंके दर्शनकी प्रक्रिया परस्पर मिलती नहीं है व चित्तको सन्तोषित नहीं करती है । सांख्य आत्माको अपरिणामी कूटस्थ नित्य, अकर्ता मानते हैं–'पुरुषस्य अपरिणामित्वात् तथा अकर्तुरपि फलोपभोगी अन्नादिवत् ।' (योगदर्शन पातंजलि १८–४ व सांख्यदर्शन १०५ अ० १) भाव यह है कि आत्मा परिणमनशील नहीं है, न वह कर्ता है, किन्तु फलका भोक्ता है । यही बात समझमें नहीं आती है । सर्वथा कूटस्थ नित्य होनेमें संसार व मोक्ष नहीं बन सकते । जो करेगा वही भोगेगा । करे नहीं व फल भोगे यह बात भी समझमें नहीं आती । जैन सिद्धान्त कहता है कि यह आत्मा निश्चय से व द्रव्यस्वभावसे नित्य है । न परका कर्ता है, न भोक्ता है, परन्तु व्यवहारनयसे यह परिणमनशील है, रागादिका कर्ता है व सुख दुःखका फल भोक्ता है ।

अद्वैत सिद्धांत वेदांतमें एक ब्रह्मके सिवाय भिन्न २ जीव व जड पदार्थ नहीं माने हैं तब शुद्ध ब्रह्मका संसारी होना व चेतनका जडरूप होना समझमें नहीं आता । कहा है—

" जीवो ब्रह्मैव नापरः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य स्वभावं प्रत्येक् चैतन्यमेव आत्मतत्वं।" (वेदांतसार)

भावार्थ—जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। नित्य शुद्ध बुद्ध, मुक्त सत्यस्वभावी, वीतराग चैतन्यरूप ही आत्मतत्व है। यदि निश्चयनयसे ऐसा कहा जाता कि यह जीव ब्रह्मके समान शुद्ध है तब जैन सिद्धांतसे बात मिल जाती। ब्रह्मके सदृश है परन्तु भिन्न२ है। जिस मायासे वेदांत संसार अवस्था मानता है वह माया भी ब्रह्मकी ही शक्ति है। कहा है—(शक्ति शक्तिमतोरभेदात्, शक्ति और शक्तिमानमें भेद नहीं है। ऐसा माननेसे सर्व दोष सांसारीक दुःखोंका ब्रह्मकी मायाकी शक्तिपर होजाता है। शुद्ध बुद्ध ब्रह्ममें माया कैसे, यह शंका नहीं मिटती है। भगवद्गीतामें भी ब्रह्मको सबका उपादान कारण कहा है—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९-४०॥

भावार्थ—हे अर्जुन! जो सर्व भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूं। क्योंकि ऐसा चर अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मेरेसे रहित होवे इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।

शुद्ध ब्रह्म चेतन स्वरूपमे जड़ चेतनकी उत्पत्ति हो यह बात समझमें नहीं आती। अमूर्तीक्के खंड नहीं होसक्ते ब्रह्मसे राग द्वेष नहीं होसक्ते, न चेतनसे जड़ पैदा होसक्ता है। सर्व पदार्थ जड़ व चेतन भिन्न हैं तौभी सत्रूप हैं, ऐसा यदि माना जावे

व ब्रह्मको एक सत् भावरूप माना जावे तो बात जैन सिद्धांतसे मिल सक्ती है।

न्यायदर्शन यद्यपि यह कहता है कि संसार दुःखमय है व इससे छूटनेका उपाय तत्वज्ञान है यह बात तो जन सिद्धांतसे मिल जाती है परन्तु न्यायदर्शन ईश्वरकी प्रेरणासे सर्व कामोंका होना मानता है, यह बात समझमें नहीं आती। जैसा कहा है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।

(न्यायसूत्र ४-१-१९)

भावार्थ—ईश्वर कारण है नहीं तो पुरुषोंको कर्मका फल न हो।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह जंतु अज्ञानी है। इसका सुख दुःख स्वाधीनता रहित है। ईश्वरकी प्रेरणासे स्वर्ग या नर्कमें जाता है। **वैशेषिक** दर्शन भी मोक्षकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे बताता है, परन्तु ईश्वरको कर्ता व फलदाता वह भी मानता है। जैन सिद्धांत कहता है कि शुद्ध निर्विकार परमात्मामें कोई संकल्प विकल्प नहीं होसक्ता। वह इच्छा नहीं कर सक्ता। तब वह जगतकी रचना व फलदान कैसे कर सक्ता है? यह जीव ही स्वयं कर्ता है व भोक्ता है।

पूर्व मीमांसा दर्शन क्रियाकांडकी मुख्यता बताता है, यज्ञ करना सिखाता है। तत्वज्ञानकी ओर लक्ष्य नहीं है, न मोक्षका ध्येय है। ध्येय स्वर्गका है। यद्यपि वह जगतको बनानेवाले व

रक्षा करनेवाले किसी ईश्वरको नहीं मानता है, वेदको नित्य मानता है। हिंसा रहित क्रियाकांड व्यवहार मात्र साधक है यह जैन मत कहता है किंतु जबतक स्वात्मानुभवका अभ्यास न होगा तबतक सच्चा मोक्षमार्ग नहीं मिलता है।

थियासोफी–यद्यपि आत्मज्ञान व ध्यानकी तरफ प्रेरित करता है परन्तु वह आत्माको स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर एक जड़ पदार्थका विकाश मानता है, इसीसे सब कुछ होता है, यह बात जैन सिद्धांतसे नहीं मिलती है। जड़से चेतन व चेतनसे जड़ नहीं होसक्ता है।

आर्यसमाजमें जीवको सदा अल्पज्ञ माना है, वह कभी बिलकुल शुद्ध व सर्वज्ञ नहीं होसक्ता। वह परमात्माके समान नहीं होता है। यद्यपि ध्यानका साधन वहां भी है परन्तु आत्माका स्वरूप जैन सिद्धांतसे नहीं मिलता है।

ईसाइयोंकी बाइबिलमें आत्माको शुद्ध व पूर्ण बनानेका अपना ही ध्यान करनेका उपदेश है।

Sanit John says God is a spirit and they that worship him must worship him in spirit and in truth. Labour not for the meat which perisheth, but for that meat which endureth unto & everlasting life. Ye shall know the truth, and the truth shall make you free.

भावार्थ—परमात्मा एक आत्मा है। जो इसकी भक्ति करें इसको आत्मा व सत्य जानकर करें। नाशवंत भोगके लिये तप न करो किंतु अनंत अविनाशी जीवनके लिये चेष्टा करो। तुम सत्यको जानोगे तब सत्य तुम्हें स्वतन्त्र कर देगा। इन वाक्योंसे आत्माकी शुद्धि व पूर्ण करनेका मार्ग जैन सिद्धांतसे मिलता है। परन्तु क्यों अशुद्ध है व कैसे शुद्ध होगा इसका विस्तार जैन सिद्धांतसे संतोषपूर्वक जाननेमें आयगा। ईसाई मतका ईश्वरकर्तावाद तो जैन दर्शनसे मिलता नहीं है।

मुसलिम धर्मके कुरानमें भी आत्माको शुद्ध करनेकी बातें आती हैं। इंग्रेजी उल्थाके वाक्य हैं-(86) 5-35 And who ever shall keep himself pure, he purifieth himself to his own behalf.

जो कोई अपनेको पवित्र रक्खेगा वह स्वयं आप ही पवित्र होजायगा, यह बात जैन सिद्धांतसे मिलती है। विस्तारपूर्वक पवित्रताका पाठ जैन सिद्धांतमें संतोषकारक मिलता है। ईश्वरका कर्तावाद जो इस धर्ममें है वह जैन दर्शनसे नहीं मिलता है।

पारसी धर्ममें भी आत्माके अनुभव करनेकी व शांति पानेकी बात है।

Gathe of Atharve Zaturashtra-Ch. 34 G. 6. O mazda, teach me the mark of the perfect ideal of life, so that with prayers and hymns for you I can proceed on the way to self realization.

भावार्थ–ऐ परमात्मा ! पूर्ण आदर्श जीवनका लक्षण मुझे सिखा, जिससे मैं भजन व स्तुति करता हुआ स्वानुभवके मार्गपर चल सकूं ।

ईश्वरकर्तावाद जैनदर्शनसे नहीं मिलता है ।

ऊपर जितने दर्शनोंका कथन दिया है वे सब सुख शांति पानेका ध्येय रखते हुए भी उस ध्येयकी प्राप्तिका उपाय जैसा जैन सिद्धांतमें संतोषकारक है वैसा उनमें देखनेमें नहीं आता । अनेक अपेक्षाओंसे वस्तुको नहीं विचारा है । जो कोई मुकाबला करते हुए जैन दर्शनके साथ अन्य दर्शनोंके मूल ग्रंथोंको पढेगा उसे यह हमारी सम्मति मान्य होजायगी । अतएव जगतके प्राणियोंको हमारा निमंत्रण है कि वे एक दफे जैन सिद्धांतका अध्ययन करें । उनको अपने अपने मान्य दर्शनके वाक्योंका विशेष खुलासा होगा व स्वानुभव द्वारा सहजानंद प्राप्तिका सुगम व सरल मार्ग हाथ लग जायगा । इस पुस्तकका पाठ हरएक जैन व अजैन तत्वज्ञानीको करना उचित है, बड़ी ही सुख शांति प्राप्त होगी ।

उस्मानाबाद (सोलापुर) }
२६–१–१९३७ } ब्र० सीतलप्रसाद जैन ।

निवेदन ।
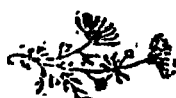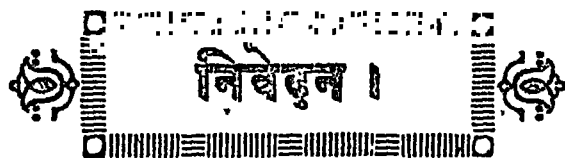
अध्यात्मरसिक श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी वर्षोंसे 'जैन मित्र' के हरएक अंकमें आध्यात्मिक विषयपर लिखते रहते हैं तथा सब लेखोंको पुस्तकाकार प्रगट करानेका प्रयास भी करते रहते हैं, यह जानकर किस अध्यात्म-प्रेमीको परम आनंद नहीं होगा ?

आपके इन आध्यात्मिक लेखोंका संग्रह १-**अनुभवानन्द**, २-**स्वसमरानन्द**, ३-**निश्चयधर्मका मनन** और ४-**अध्यात्मिक सोपान** ग्रन्थोंद्वारा प्रगट होचुका है और यह पांचवां ग्रन्थ-"**सहजानन्द सोपान**" प्रगट होरहा है। विशेष आनन्दकी बात तो यह है कि यह ग्रन्थ "जैनमित्र" के ३८ वें वर्षके ग्राहकोंको भेटमें देसकें ऐसा भी प्रबन्ध श्रीमान् ब्रह्मचारीजीने करा दिया है।

अर्थात् आपकी प्रेरणासे ही यह ग्रन्थ **श्रीमती चंदरबाईजी जैन खण्डवा** जो कि अध्यात्मज्ञान रसिक हैं उनकी तरफसे 'मित्र' के ग्राहकोंको भेटमें दिया जा रहा है, जिसके लिये 'मित्र' के पाठक, श्री० ब्रह्मचारीजी और हम श्रीमती चंदरबाईजीके परम आभारी हैं।

और हम तो श्री० ब्रह्मचारीजीकी जैन समाज सेवा, जैन साहित्य सेवा और अध्यात्म प्रेमका कहां तक आभार मानें ? आपने

तो आपने सारा जीवन जैन समाजकी सेवामें ही अर्पण कर रखा है। हमें आप जैसा जैन समाजका कर्मण्य त्यागी दूसरा नजर नहीं आता। श्री० ब्रह्मचारीजी चिरायु होकर इससे भी अधिक जैन समाजकी सेवा करें ऐसी हमारी हार्दिक भावना है। जो लोग 'जैनमित्र' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये इस ग्रन्थकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि जैनसमाज इस अध्यात्म ग्रन्थके पठन पाठनका विशेष लाभ उठायगी।

सूरत
वीर संवत् २४६३
आषाढ वदी १४
ता० ७-७-३७।

निवेदक—
मूलचंद किसनदास कापड़िया
प्रकाशक।

"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस, खपाटिया चकला-सूरतमें
मूलचन्द किसनदास कापड़ियाने मुद्रित किया।

श्रीवीतरागाय नमः।

सहजानंद सोपान
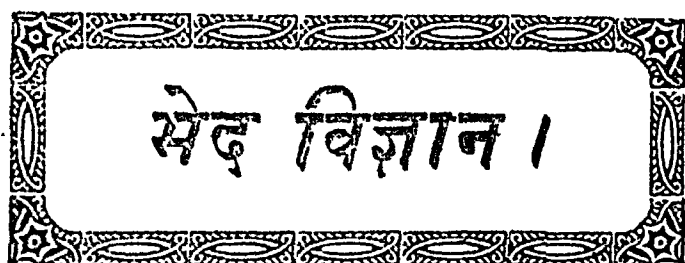
१—अन्न दृष्टान्त।

भेदविज्ञानकी महिमा अपार है। श्री अमृतचन्द्राचार्य समय-
सार कलशमें कहते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
तस्यैवाभावतः बद्धाः बद्धाः ये किल केचन॥

जितने जीव संसारसे पार होकर मुक्त होगए हैं वे भेद विज्ञानके प्रतापसे ही हुए हैं व जितने जीव संसारमें बद्ध पडे हैं वे भेद विज्ञानको न पाकर बद्ध पडे हैं। भेद विज्ञानकी महिमाका ज्ञान वचन अगोचर है। तथापि भव्य जीवोंके भीतर भेदविज्ञानकी कला उत्पन्न करनेके लिये भेद विज्ञानका ही कुछ वर्णन किया जाता है।

एक लड़की चावल चुगने बैठी है। चावलमें कंकड, पत्थर,

तृण, जंतु, छिल्के आदि मिले हुए हैं। उसको इस बातका भेद विज्ञान है कि चावलका स्वरूप जुदा है व कंकड पत्थरका स्वरूप जुदा है। वह लड़की चावलको सर्व कुछ अचावलसे भिन्न पहचानती है। यदि गेहूंके भीतर चावल रख दिये जावें तौभी वह चावलोंको भिन्न कर डालेगी। यदि उसे भिन्न करनेको भी न कहा जावे और वह भिन्न नहीं भी करे तौभी जब वह चावलोंको गेहूंके साथ मिला हुआ देखती है तो उसको तुर्त यह भाव झलक जाता है कि चावल भिन्न हैं गेहूं भिन्न हैं। मिली हुई वस्तुओंको भिन्नर पहचाननेकी जो बुद्धि है उसको ही भेद विज्ञान कहते हैं।

यह आत्मा अनादिकालसे पुद्गलसे मिला हुआ कुछका कुछ दिख रहा है। इसकी ऐसी मिली हुई दशामें भी जिस बुद्धिसे यह आत्मा बिलकुल निराला दीखे और जो कुछ परसंयोग है व परसंयोग-जनित विकार है वह सब निराला दीखे उसे ही भेद विज्ञान कहते हैं। आत्मा असलमें आत्मा रूप ही है इसीको परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, निरंजन, निर्विकार, जिनेन्द्र सिद्ध, अनंतज्ञानी, अनंत दर्शनी, अनंत वीर्यवान, अनंत सुखी, अमूर्तीक, परम चारित्रवान, परम सम्यक्ती कहते हैं।

भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि ये सब इस आत्मारामसे भिन्न हैं। ऐसी श्रद्धा पूर्वक पहचान होजाना ही भेदविज्ञान है। मैं आज आत्मासे भिन्न सर्व परके साथ स्नेह छोड़कर एक निज आत्माको ही आत्मा रूप देखता हुआ जो संतोष पारहा हूं वह वचन अगोचर है।

२—सूर्य दृष्टान्त।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे निर्वृत्त होकर निश्चल मन हो निजात्माकी असली सूरत देखनेके लिये उत्सुक होरहा है। संसारी आत्माकी असली सूरत अनादिकालसे पुद्गलके रचे हुए कर्म शरीरके भीतर दबी हुई है और इसी तरह छिपी हुई है जैसे वादलोंके बीचमें सूर्यका प्रकाश छिप रहा हो। चतुर पुरुष मेघाच्छन्न दिवसको देखकर भी व सूर्यके विमानका दर्शन न पाकर भी यही अनुमान लगाता है कि जो कुछ प्रकाश दिवसका होरहा है वह सूर्यका ही है। तथा सूर्यका असली स्वभाव सदा ही तेजस्वी व प्रकाशमान है। यह चतुर पुरुष मेघाच्छन्न होनेपर भी सूर्यको सूर्यरूप परम प्रतापशाली ही देखता है। यह उसके भेदविज्ञानकी कलाका प्रताप है। इसी तरह भेदविज्ञानी महात्माको अपना आत्मा परमात्माके समान दिखता है।

उसने श्री जिनवाणी व श्री जिनगुरुपर विश्वास लाकर उनके उपदेशमें श्रद्धा जमाकर उनके कहनेसे आत्माके स्वरूपका परमात्माके स्वरूपके समान निश्चय कर लिया है। जैसे किसी विश्वासपात्र व्यक्तिसे किसी न देखे हुए पुरुषका सर्व वर्णन उसके शरीरादिका सुनकर मनमें उस पुरुषके शरीरका नकशा खींच लिया जाता है, वैसे ही श्री गुरुद्वारा बतलाये हुए क्रमसे शुद्धात्माका नकशा अपने अन्तःकरणमें खींचा जासक्ता है।

श्रुतज्ञानके द्वारा ही आत्मा व परका भिन्न २ ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञान पैदा होता है। भेदविज्ञानके द्वारा ही स्वात्मानुभव होता है।

सविकल्प अवस्थामें यह भेदविज्ञान सर्व ही नरनारक पशु–पक्षी वृक्षादि पर्यायोंके भीतर आत्माके स्वरूपको एकाकार शुद्ध झलकाता है। भेदविज्ञानीको हरएक प्राणीके भीतर परमात्माका दर्शन होता है।

उसके भावोंसे मोह, राग, द्वेषका मैल निकल जाता है। जब सर्व आत्माओंको एक समान देखा गया तब न कोई मित्र रहा, न कोई शत्रु रहा, न कोई पुत्र रहा, न कोई पिता रहा, न कोई माता रही, न कोई बहिन रही. न कोई पुत्री रही, न कोई स्वामी रहा, न कोई सेवक रहा, न कोई नीच रहा, न कोई पूज्य रहा। आप व सर्व ही आत्माएं समान [illegible]में एकरूप दिखने लगीं।

जब वही भेदविज्ञानी [illegible]विकल्प होजाता है तब वह एक ऐसे स्वानुभवमई भावमें पहुंच जाता है जहां न कुछ विचार है न क्रिया है, न शरीरका बन्धन है। यही एक वचनातीत भाव मोक्षमार्ग है। जो इसको पाते हैं वे स्वात्मानंदका विलास भोगते हुए अपने जीवनको सफल बनाते हैं।

३–न्यारियेका दृष्टान्त।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व पर पदार्थोंसे उन्मुख होकर एकमन हो अपने भीतर अपनी निज वस्तुको उसी तरह खोज कर रहा है जिस तरह न्यारिया राखके भीतर सुवर्णकी खोज करता हो। आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें रागद्वेष मोहका, अज्ञानका व प्रपंचजालका अभाव है। मनके कार्योंका आत्माके निजस्वभावमें पता नहीं चलता है। आत्मा एक ज्योतिमय स्वपर ज्ञायक पदार्थ है। परम वीतराग, कृतकृत्य व निर्विकार है। इस शुद्ध स्वरूपकी भावनाको अपना मानता हुआ, इससे जो कुछ पर है उसको पर मानता हुआ

यह भेदविज्ञानकी शक्तिको बढ़ा रहा है। भेदविज्ञान एक ऐसा चश्मा है जिसको लगानेसे यह छः द्रव्यमई जगत अपने द्रव्य-रूपमें पृथक् पृथक् झलक जाता है। जितनी आत्माएं हैं चाहे वे साधारण वनस्पतिरूपी निगोदमें हों, चाहे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व प्रत्येक वनस्पतिमें हों, चाहे द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पंचेंद्रिय, असैनी व सैनीमें हों, चाहें सिद्धपदमें हों, सबका स्वरूप एकसा है, सबका द्रव्य एकसा है, सबका क्षेत्र एकसा ही असंख्यात प्रदेशी है, सबका शुद्ध परिणमन समय समय एकसा ही है, सबका स्वभाव एकसा, परम आनन्दमय व परम शांतिमय है। प्रत्येक आत्माकी सत्ता भिन्न २ होनेपर भी परस्पर हर तरहसे समानता है। आत्माओंको छोड़कर जितने पुद्गल द्रव्य हैं, चाहे परमाणु रूप हो चाहे नानाप्रकार स्कंध रूप हों; औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तैजस, कार्माण ये पांच शरीर, सर्व नगर, द्वीप, पर्वत, नदी, समुद्र, सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र, तारे, सब मेरेसे भिन्न हैं।

इनका मूल द्रव्य पुद्गल परमाणु है। वे सब भिन्न भिन्न नजर आते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु तथा आकाश भी भिन्न भिन्न ही दीखते हैं। भेद विज्ञानके प्रतापसे मेरा शुद्ध स्वभाव परम सुखी, परमात्मारूप नजर आता है। आज मैं सर्व प्रपंच-जालोंसे उदास होकर निज स्वरूपानंदका ही स्वाद लेकर तृप्त हूंगा। मैं अपने आपमें ही मगन हूंगा। मैं अपने आपको ही देखूंगा। मैं अपनेमें अपने आपको ही भोगूंगा। उसीमें मेरा धन है, वहीं विलास करना निराबाध है।

४—आत्मगङ्गा स्नान ।

ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपने शुद्ध मन द्वारा सर्व प्रपंच-जालोंसे रहित होकर आज यह विचार करता है कि मैं कौन हूं ? यह शरीर क्या है ? यह क्रोध, मान, माया, लोभ क्या है ? यह अज्ञान क्या है । इन बातोंपर विचार करते हुए भेद विज्ञान यह बताता है कि यह आत्माराम साक्षात् परमात्मा है, ज्ञाता दृष्टा है, निर्विकार है, शुद्ध है, वीतराग है, अमूर्तिक है, परमानन्दमई है, अपनी स्वभाव परिणतिका ही कर्ता है व अपने स्वाभाविक आनन्दका भोक्ता है, परम कृतकृत्य है, सर्व विश्वके पदार्थोंके गुण पर्यायोंको एक समयमें ही जाननेवाला है । इस आत्माको ईश्वर कहो, भगवान कहो, प्रभु कहो, परमेश्वर कहो, पुरुषोत्तम कहो, परब्रह्म कहो, परमसार कहो, परमार्थ कहो, परमेष्ठी कहो, निरंजन कहो, शिव कहो, विष्णु कहो, ब्रह्मा कहो, जिनेश्वर कहो, बुद्ध कहो, सुगत कहो, योगीश्वर कहो, ध्यानेश्वर कहो, ज्ञानेश्वर कहो इत्यादि अनेक अपेक्षाओंसे स्थापित अनेक नामोंको लेकर स्मरण करो; यही साक्षात् सिद्ध है, लोकोत्तम है, परम मंगल है, परम शरण है । इसके साथ जो कुछ ज्ञाना-वरणादि कर्मोंका रचा हुआ कार्माण देह है वह पुद्गलमय है । आत्माके स्वभावसे सर्वथा भिन्न है । स्थूल दिखनेवाला औदारिक शरीर भी पुद्गलद्रव्य रचित जड़ है । रागद्वेषादि भावकर्म भी कर्मोदय जनित विकार है । इस आत्माके स्वभावसे सर्वथा दूर है । यही भेदविज्ञान अपने भीतर जिस तरह परमात्माको भिन्न बताता है उसी तरह विश्वके सर्व संसारी प्राणियोंके भीतर आत्माको अनात्मासे भिन्न बताता है । भेदविज्ञानके प्रतापसे सर्व विश्वकी आत्माएं चाहे शुद्ध

हो एक रूप ही देखनेमें आती हैं। वहां उच्च नीचका, पिता पुत्रका, स्वामी सेवकका, गुरु शिष्यका, शत्रु मित्रका कोई भी भेद भाव नजर नहीं आता है। इस कारण परम समता भावका शांत जल-आत्मा रूपी घरके भीतर बहने लगता है। यही ज्ञानी इसी गंगा-समान पवित्र जलमें स्नान करता है, इसीका पान करता है, इसीमें कल्लोल करता है। व इसी जलमें मगन होकर जिस परमानन्दका लाभ करता है, वह वचन अगोचर है। वे ही सन्त हैं जो इस अपूर्व रसको पान कर सदा सुखी रहा करते हैं।

५—आत्मा हीरेकी खोज।

एक भेदविज्ञानका प्रेमी भव्यजीव भेदविज्ञानका अभ्यास करके निज स्वरूपका लाभ करता हुआ बड़ा ही सुखी रहता है। अपना स्वरूप अपने ही पास है। आप ही परमात्मा, परब्रह्म व सिद्ध भगवान है। परन्तु औदारिक तैजस व कार्माण शरीरोंके भीतर ऐसा छिपा पड़ा है कि इसका पता भी नहीं चलता है। जैसे किसी घरमें एक हीरेका रत्न हो परन्तु उसके ऊपर मिट्टीका ढेर व कूड़ा करकट जमा होगया हो तो उस हीरेके पानेके लिये सर्व ही कूड़े करकटको हटाना पड़ेगा तब ही उस रत्नका पता चलेगा।

इसी तरह भेद विज्ञानकेद्वारा सर्व ही अन्य पदार्थोंके द्रव्य, गुण, पर्यायोंसे भिन्न आत्माके द्रव्य गुण पर्यायको भिन्न करके जानना होगा। भेद विज्ञानी शुद्धोपयोगका प्रेमी होजाता है। वह शुभो-पयोगके कार्योंको करता हुआ भी शुद्धोपयोगकी तरफ दृष्टि लगाए हुए भेदविज्ञानके प्रतापसे शुद्धोपयोगको पा लेता है।

यदि वह मुनि है तो वह स्वाध्याय करता हुआ, भाव पूजन करता हुआ, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, व सामायिकका पाठ करता हुआ, आहार व विहार करता हुआ भेदविज्ञानके प्रतापसे शुद्धोपयोगको पाता रहता है। इसीके प्रभावसे ज्ञानी मुनि सामायिक चारित्रका लाभ करते हुए रागद्वेषके फंदसे बचे रहते हैं। लाभ, अलाभ, पूजा व निंदामें समताभावको पाते रहते हैं। गृहस्थ भी द्रव्यपूजाके साथ भाव पूजा करते हुए, गुरुभक्ति करते हुए, शास्त्र स्वाध्याय करते हुए, संयमको पालते हुए, सामायिक करते हुए भेद-विज्ञानके प्रतापसे शुद्धोपयोगी छटाको पा लेते हैं। मैं भी इस समय भेदविज्ञानकी दृष्टिसे अपनेको सबसे भिन्न परमात्मारूप अनुभव करता हुआ परमानंदका विलास लेता हूं और आत्मानुभवमें गुप्त होकर मन वचन कायकी क्रियाओंसे छूटकर निष्क्रिय होजाता हूं।

६—मोह मदिराका नशा।

एक ज्ञाता व्यक्ति जब अपनी दशा देखता है तो इसे यकायक उदासी छाजाती है। अरे! मैं वारवार जन्म मरण करनेवाला, रोग, शोक, व्यथाको भोगनेवाला, पशु मानवकी अनेक योनियोंमें चक्कर लगानेवाला, पांचों इन्द्रियोंकी वनिरती इच्छाओंकी दाहमें जलनेवाला, रातदिन उनकी पूर्तिके लिये न्याय व अन्यायका विचार न करके यत्न करनेवाला, धनके लिये असत्य, चोरी आदि पापोंमें प्रवृत्ति करनेवाला, तृष्णाकी दाहको शमन न कर सकनेके कारण आकुलतामें मग्न हो शरीर छोड़नेवाला होता हुआ क्यों इस दशाके हटानेका उपाय नहीं करता हूं। सच है, मैंने मोहको अपना साथी

बना लिया है। मोहने ऐसी अज्ञानकी मदिरा पिलादी है जिससे मैं उसीका नचाया नाच रहा हूं। वह जिधर लेजावे उधर लेजाया जारहा हूं। दु:ख सहता हुआ भी मोहको नहीं छोड़ता हूं। परन्तु अब तो मुझे जगना चाहिये और परम दयालु श्री गुरुने जो तत्वज्ञान बताया है उसको स्मरण करना चाहिये। श्रीगुरुने बताया है कि भेदविज्ञानकी दृष्टिसे जगतके पदार्थोंको देख निश्चयनयका चश्मा लगाले तब यह जगत जो छः मूल द्रव्योंका समुदाय है सो इसके द्रव्य सब अलग २ ही दीख पड़ेंगे।

निश्चयनयसे देखते हुए जितने पुद्गल हैं वे सब परमाणुरूप दीखते हैं। धर्म, अधर्म आकाश, काल अलग ही मालूम पड़ते हैं। सर्व जीव अलग अलग शुद्ध परमात्मारूप झलकते हैं। मैं अपनेको भी जब निश्चयनयसे देखता हूं तो उसे परमात्मा ही पाता हूं। न मेरेमें रागद्वेषादि आठ कर्मोंके पुंज दीखते हैं, न शरीर वस्त्रादि परिवारादि अपना दीखता है। मैं एक अकेला अपने स्वरूपमें एक रूप परम भगवान ज्ञातादृष्टा अमूर्तीक अनन्तवीर्यमई परम वीतरागमई हूं। यही अनुभूति मुझको होरही है। उचित है कि मैं इसी ही अनुभूतिको ग्रहण किये रहूं। वास्तवमें श्रीगुरुने बताया है कि जो परसे भिन्न निज आत्माका अनुभव करता है वही परम सुखशांतिका भोगी होता हुआ मुक्त होजाता है, संसार-सागरसे पार होजाता है।

वास्तवमें आप ही नौका है, आप ही नौकाका खेवटिया है व आप ही नौकाका यात्री है। जो इस निर्द्वन्द भावमें एकतान हो एकाग्र होजाता है, वह एक ऐसे अद्वैत भावमें पहुंच जाता है, जहां सिवाय आत्मानन्दके स्वादके और कुछ विकल्प नहीं आता। अध्या-

रमकी गाढ़ निद्रामें ऐसा उन्मत्त होजाता है कि इसे एक आत्म-रसका ही वेदन होता है। मानों सारे विश्वमें ही शांति सुधा छारही है। वास्तवमें स्वात्मानुभूतिका होना ही मुक्तिधाममें तिष्ठना है। मैं आज सर्व संकल्प-विकल्पोंको त्यागकर व सर्व परकृत अवस्था-ओंसे उदासीन होकर एक निज स्वरूपकी ही गुफामें बैठता हूं। मन, वचन, कायकी तरफसे नेखबर होजाता हूं तब जो आनन्द पाता हूं वह वचनातीत केवल अनुभवगम्य है।

७-सत्य वेदान्त।

एक विचारवान व्यक्ति जब सूक्ष्मदृष्टिसे देखने लग जाता है तब उसे भेदविज्ञानका चश्मा लगाना पड़ता है। भेदविज्ञानके प्रता-पसे सम्मिलित पदार्थोंका भेद खुल जाता है। भेदविज्ञानके अभावमें व्यवहारकी अँधदृष्टिको रखते हुए यह मानव अपनेको मानव, बालक, वृद्ध, युवा, सुंदर, असुन्दर, धनिक, निर्धन, बहुकुटुम्बी, कुटुम्बरहित माननीय, अमाननीय, रागी, द्वेषी, मोही, विद्वान, मूर्ख, धर्मी, अधर्मी आदि नाना रूपमें माना करता है। व्यवहार दृष्टिमें जगतके कुछ प्राणी शत्रु दिखते हैं। स्वार्थांधपना हृदयमें समाया रहता है जिससे इन्द्रियोंके विषयोंका दासत्त्व रहता है। इस दासत्त्वके प्रभावसे यह प्राणी इन्द्रिय भोगके सहकारी पदार्थोंसे राग व विरोधी पदार्थोंसे द्वेष कर लेता है। एक तरफ रागकी तरंगें बढती हैं तो दूसरी ओर द्वेषके सर्प लौटते हैं। कभी भी शांति व समताका लाभ नहीं होता है।

श्री गुरुके अमृतमई उपदेशको पाकर यह ज्ञानी मानव व्यव-हार दृष्टिके अंधपनेको भेदविज्ञानका चश्मा लगाकर मेट देता है।

इस चश्मेको लगाते ही सर्व जीव अजीवोंसे भिन्न नजर आते हैं। सर्व जीव समान गुणधारी अमूर्तीक दीखते हैं। सर्व ही सहज ज्ञान दर्शन स्वरूप, सर्व ही परम वीतराग, सर्व ही अनन्तबली, सर्व ही परमानन्दी, सर्व ही ज्ञानाकार, असंख्यात प्रदेशी, सर्व ही परमात्मा जान पड़ते हैं। इस भावके आते ही परम समताभाव झलक जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषाय कहां चले जाते हैं, सो कुछ पता नहीं चलता है। एकेन्द्रियादि जीवोंके भेद, गति इंद्रिय आदि चौदह मार्गणाएं, मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान कहां लोप जाते हैं, सो कुछ पता नहीं। भेद विज्ञानके प्रतापसे अपना आत्मा यद्यपि सर्व आत्माओंके समान है तथापि प्रदेशत्व गुणकी अपेक्षा सबसे निराला है ऐसा अनुभवमें आता है।

निराकुलताके लाभके लिये व परमानन्दका उपभोग करनेके लिये यह ज्ञानी सर्व पर आत्माओंसे व अनात्माओंसे उदास होकर एक अपने आत्माको ही ग्रहण कर लेता है। अर्थात् अपने जान-नेवाले उपयोगको सर्व परसे हटाकर अपने ही उपयोगवान आत्मामें जोड़ देता है। तब ज्ञाता ज्ञेयकी, ध्याता ध्येयकी, रमणकर्ता व रम्य वस्तुकी एकता होजाती है। यकायक आत्मस्वसंवेदन उमड़ आता है। आत्मानुभव व स्वरूपाचरण चारित्र जग जाता है। आत्मानन्द सुधाका प्रवाह बहने लगता है। बस, एक जातिका अलौकिक अध्यात्मिक नशा चढ़ जाता है। यह ज्ञानी निज रस-स्वाद पुष्पमें मधुमक्षिकावत् लवलीन होजाता है। तब जो अद्भुत संतोष पाता है, उसका वर्णन वचन अगोचर है। यही सच्चा वेदांत है व यही अद्वैत मत है।

८–साम्य गढ़ निवास ।

एक तत्वमर्मी एकांतमें बैठा हुआ विचार करता है कि मैं और तू के क्या अर्थ हैं । जब जगतकी प्रपंच-रचनाकी अपेक्षा देखा जाता है तो मैं और तू कहनेवाले सब शरीरकी अवस्थाको व अंतरंग औपाधिक भावोंकी अवस्थाको देखकर ही मैं तू का व्यवहार कर रहे हैं । मैं ब्राह्मण तू क्षत्रिय, मैं क्षत्रिय तू ब्राह्मण, मैं वैश्य तू शूद्र, मैं पवित्र तु अपवित्र, मैं विद्वान तू मूर्ख, मैं धनिक तू कंगाल, मैं सुन्दर तू कुरूप, मैं पुरुष तू स्त्री, मैं बालक तू बालिका, मैं स्वामी तू सेवक, मैं सेनापति तू सिपाही, मैं पूजक तू पूज्य, मैं ध्याता तू ध्येय, मैं ज्ञाता तू ज्ञेय, मैं संसारी तू सिद्ध । इस तरहका मैं तू का व्यवहार रागद्वेषका, अहंकार, ममकारका व दीनता तथा उच्चताका भाव लाता है । और कर्मोंके बन्धको बढ़ाता है । संसारका मार्ग विस्तृत करता है । मोक्षमार्गके खोजीके लिये ऐसा व्यवहार बाधक है । मोक्षशास्त्रके रचयिता आचार्य कहते हैं कि मोह क्षोभ विहीन आत्माका एक साम्यभाव चारित्र है । इसी चारित्ररूपी नौकापर चढ़नेसे यह प्राणी भवसागरसे पार होकर मोक्षद्वीपमें जासक्ता है । इस साम्यभावकी प्राप्तिके लिये मैं तु का व्यवहार त्यागना पडेगा । जगतके विचित्र पदार्थोंको भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखना पडेगा ।

एक एक दृश्यके मूलमें जाकर ढूंढना पड़ेगा कि कौन कौन द्रव्य बैठा है । निश्चय नयकी दृष्टिसे देखनेकी जरूरत है । इस दृष्टिसे देखते हुए सर्व ही चेतन पदार्थ एकरूप शुद्ध, केवल, अविनाशी, ज्ञान दर्शनमय, परम बली, परम शांत व परम सम्यक्ती,

परमानन्दमई दिखलाई पडते हैं । कोई भेद मालूम नहीं पड़ता है । सत्ता भिन्न २ होनेपर भी स्वरूपकी अपेक्षा सब आत्माएं समान हैं। तथा आकाश, काल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, तथा सर्व पुद्गल चेतना रहित हैं । मेरे स्वभावसे बिल्कुल भिन्न हैं । मैं इनको अपनाऊं नहीं तो ये मेरा बिगाड नहीं कर सक्ते । इसलिये इनसे उदासीन होकर व सर्व आत्माओंको समान देखकर मैं साम्यभावरूप चारित्रको पाता हूं । और विना किसी भय व शंकाके अपने ही शुद्ध असंख्यात प्रदेशमई आत्मारूपी गढ़में विश्रांति लेता हूं और जिस परमानन्दका स्वाद पाता हूं वह वचन अगोचर है ।

९—आत्मगुफा प्रवेश ।

एक भेदविज्ञानी तत्वज्ञानके प्रेमसे आकर्षित होकर जब देखता है तो इस संसारके भयानक जंगलमें अपनेको उलझा हुआ पाता हैं। जैसे कोई पक्षी जालमें फंसा हुआ उड़नेकी इच्छा रखते हुए भी व स्वतंत्रतासे विचरनेकी कामना रहनेपर भी तडफ २ कर रह जाता है व जालसे निकलनेका मार्ग नहीं पाता है, इसी तरह यह ज्ञानी अपनेको संकल्प विकल्पोंसे या औपाधिक भावोंसे जालमें उलझा हुआ पाकर अतिशय आकुल व्याकुल होरहा है । तथापि भेद-विज्ञानके प्रतापसे इसको इस जालसे निकालनेका मार्ग मिल गया है । भेदविज्ञान इसे बताता है कि तू अपनी सत्ताको यथार्थ समझ ले, तथा जो तू नहीं है उसे भी यथार्थ समझलें । फिर अपनेसे गाढ़ प्रेम रखना व परसे दृढ़तापूर्वक उदासी वर्तना ही इस महत् जालसे निकल जानेका उपाय है ।

भेदविज्ञान बताता है कि यह जानने देखनेवाला आत्मा पदार्थ ही परमात्मा है। इसका स्वभाव पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण शांतिमय व पूर्ण आनंदमय है। यह अमूर्तीक है, शुद्ध है, विकार रहित है, असंख्यात प्रदेशी होकर भी परम निर्मल है। यही साक्षात् परब्रह्म, परमेश्वर परम पदार्थ है। इसकी ज्ञान प्रभा उपमा रहित है। सूर्य, चन्द्रमा आदि कोई भी पदार्थ इसकी सदृशताको नहीं पासकते हैं। यही मैं हूं—तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, हास्य, शोक, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद आदिके विकारी भाव मोहनीय कर्म जनित मल है, पर है, हेय है। ज्ञानावरणादि आठ कर्ममलका सम्बन्ध भी पुद्गल है। स्थूल शरीर व उसके सम्बंधित सर्व पदार्थ भी पर हैं।

निज आत्माकी सत्ता सम्पूर्ण अन्य आत्माओंकी सत्तासे भी निराली है। इस तरहके ज्ञानको पाकर यह ज्ञानी जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके सिवाय सम्पूर्ण परसे उदासीन हो जाता है। बिलकुल विरक्त हो जाता है। निजात्मीक सत्तामें प्रेमालु होकर यह उसीकी एक गुफा बनाता है और आप ही उसमें प्रवेश करके वैठ जाता है। मन, वचन कायकी किसी भी क्रियाको वहां प्रवेश नहीं होने देता है। इसतरह एकांतवासमें बैठकर आप ही अपनेसे ध्यानकी अग्नि जलाता है और उस अग्निमें आप ही अपनेको डालकर तपाता है। इसतरह स्वात्मीक तप तपते हुए एक ऐसे अपूर्व आनन्दको पाता है जिसका वर्णन हो नहीं सक्ता। इस आनन्दरसको पान करते हुए यह अपनेको सिद्ध परमात्माके समान अनुभव करता हुआ परमसंतोषी हो रहा है।

१०—जगत उपवन है।

ज्ञाता दृष्टा भेद विज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित हो, जब अपनी दृष्टिको पसारता है तब यह जगत एक विचित्र उपवन दिखलाई पड़ता है। जैसे उपवनमें नानाप्रकार पीपल, नीम, आम, नींबू, नारंगी, अमरूद, इमली, शरीफे, सेंव, अंगूर, अनार, गुलाब, चमेली, बेला, केवड़ा, खरबूजा, तरबूज, सेम, भिण्डी, परवल, खीरा, आदिके अनेक वृक्ष नानाप्रकारकी शोभाको लिये हुए दिखलाई पड़ते हैं। मोही जीव उनमें आसक्त होजाता है, उनकी शोभा देखता है, सुगन्ध लेता है, फलोंको खाकर स्वाद भोगता है, परन्तु तत्वज्ञानी जीव ऐसे मनोहर वनके मध्य एक वृक्षके नीचे बैठ जाता है और सर्व चिंताओंको मेटकर अपनेको परमात्माके ध्यानमें संलग्न कर देता है। वैसे ही यह भेदविज्ञानी इस जगतमें मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष आदिको व उनकी नाना प्रकारकी क्रियाओंको देखकर उनके मोहमें न फंसकर बिलकुल उदासीन रहता है। भेद विज्ञानके प्रभावसे उसको यह सब पुद्गलका नाटक दीखता है। पुद्गल एक ऐसा बलवान द्रव्य है जो अपने स्वभावसे नाना प्रकार करतब करता है तथा जीवोंके साथ मिलकर विचित्र क्रियाएं बताता है। जगतमें ६ द्रव्य हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल तो बिलकुल उदासीन हैं, क्रिया अर्थात् हलन चलन रहित हैं। सर्व जीव अपने स्वभावमें रहते हुए निराकुल हैं—शांत हैं। आकुलता रहित हैं, भ्रमण रहित हैं, संकल्प विकल्प रहित हैं, क्रोधादि विकारोंसे शून्य हैं। एक पुद्गलमें ही कुछ ऐसी विचित्र

शक्ति है जिसके असरसे आत्माके प्रदेश सकंप होते हैं व आत्माके भावोंमें कषायोंका झलकाव होता है जिससे क्रोध संहार करनेको, मान अपमान करनेको, मायाचार ठगनेको, लोभ अन्यायसे धन-संग्रह करनेको तैयार होजाता है । पुद्गलकी ही समलतासे जगतमें हिंसा, असत्य, चौरी, कुशील व परिग्रहके पाप फैले हुए हैं । इन्हींके कारण जगतके जीव मदिरा पीनेवालेके समान उन्मत्त रहकर पुद्गलके प्रपंचमें मोही होते हुए चिन्ताकी दाहमें जलते हैं । कभी शोक कभी खेद कभी संताप सहते हैं । भेदविज्ञानी ऐसा विचार कर सर्व पुद्गल मात्रसे अपना नाता छोड देता है और सर्व जीवोंसे भ्रातृभाव कर आप ही अपने ज्ञानानन्दमय स्वभावमें तन्मय होजाता है । फिर जिस आनन्दका भोग भोगता है उसका कथन बचनसे हो नहीं सक्ता । वह एक अनुभवगोचर परम अमृत रस है जिसका पान भव्य जीव ही करता है ।

११—योग निद्रा ।

एक ज्ञानी आत्मा जब विचारने लगता है तो उसको पता चलता है कि जिसको वह मैं करके कहता है और जिसको ममकार करके पुकारता है वह सब मैं नहीं हैं न वह मेरा है, भेदविज्ञानके प्रतापसे ही ऐसी निर्मल दृष्टि प्रकाशित हो जाती है जिसकेद्वारा ज्ञानीको आत्माका जो निज स्वभाव है वही मैं रूप भासता है व जो उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र वीर्यादि गुण हैं उनहीमें ममपना झलकता है । अनादिकालसे अज्ञानीने कर्मके निमित्तसे जो २ पुद्गल पर्याय पाई थी उसीमें वह अपनापना मानता था व जिन २ पदार्थोंका सम्बंध था उनहीको मेरा मेरा करके मानता था । चारों

गतिकी अनेक योनियोंमें अनेक प्रकारके भेष जीवने धारण किये हैं उन भेषोंमें अपनापना जानना ही मोहमई अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण इस जीवने महान संकट उठाए हैं। इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगकी घोर यातनाएं सही हैं।

आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानके कारण घोरतर कर्मबंध किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके स्वादका ही भोग किया है। कषाय रहित निर्मल आत्मीक आनन्दका स्वाद नहीं प्राप्त किया है। अब तो इस ज्ञानीने अपना स्वरूप पहचाना है। अब तो इसको अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका पक्का निश्चय होगया है। अब तो यह जान गया है कि मेरी सत्ता सर्व अन्य आत्माओंसे तथा सर्व अनात्माओंसे बिलकुल निराली है। इसको अपने हीमें परमात्माका दर्शन होरहा है। यह आप ही अपनेको परमात्मा समझ रहा है। इसके उपयोगमें शुद्धताका चित्र खिंच गया है। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग एवं ही बंधके कारण मालूम होरहे हैं। यह पुण्य पाप दोनोंको ही बेड़ी समझ रहा है। इसकी दृष्टि आत्मस्वातंत्र्य पर है। यह राग द्वेषके बहिरंग कारण एवं चेतन पदार्थोंको अपने समान देखता हुआ समभावधारी होजाता है। सर्व ही अचेतन पदार्थोंमे भी वीतरागी होजाता है। यह निश्चिन्त होकर निज तत्वकी गुफामें प्रवेश करता है। वहीं विश्रांति करके स्वानुभवकी चादरमें गुप्त होकर योगनिद्रामें बेमान होजाता है। उस समय जिस अपूर्व आनंदका स्वाद पाता है वह बचन अगोचर है और मात्र अनुभवगम्य है।

१२-आत्मबाग रमण।

एक ज्ञानी महात्मा अपने अन्तरङ्ग लोकमें जब दृष्टि पसार कर देखता है तो उसे बहुतसे संकल्प विकल्प नजर आते हैं। एक ज्ञानकी परिणति होती है, मिटती है जब दूसरी होती है। यद्यपि ज्ञान जाननेका काम करता है, परन्तु वह एक इन्द्रिय द्वारा एक कालमें जानता है तब दूसरी इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सक्ता है। जब मनके द्वारा जानता है, इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सक्ता है। पांच इन्द्रिय और छठे मनके द्वारा क्रमवर्ती ज्ञान बड़ी भारी आकुलताका कारण है। क्योंकि जब एकको जानता है तब दूसरे विषयको जाननेकी आकुलता पैदा होजाती है। ज्ञानी विचारता है कि क्या ऐसा ज्ञान मेरे आत्माका स्वभाव है तब भेदविज्ञानके द्वारा पता चलता है कि आत्मापर ज्ञानावरण व दर्शनावरणका पर्दा पड़ा है। इनका जितना२ क्षयोपशम होता है उतना२ अल्प, अशुद्ध ज्ञान प्रगट होता है। यह ज्ञान अशुद्ध इसलिये है कि इसीपर केवलज्ञानावरणका घोर पर्दा पड़ा हुआ है। यदि यह पर्दा न हो तब तो यह ज्ञान आत्माका स्वाभाविक प्रकाश है। इस प्रकाशमें यह ताकत है कि इसमें सर्व ही जानने योग्य पदार्थ एक कालमें झलकते हैं। यहां पूर्ण ज्ञान है. इसमें कोई प्रकारका अज्ञान नहीं रहता है। वास्तवमें यही मेरा स्वभाव है। मति श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान सब विभाव हैं। मेरा स्वभाव तो एक सहज शुद्ध ज्ञान है। फिर मैं देखता हूं कि मेरे अन्तरङ्गमें क्रोध मान माया, लोभ, भय, ग्लानि, कामादि विकार बड़ी ही भयंकरतासे अपना दर्शन दे रहे हैं।

मैं जब भेदविज्ञान द्वारा विचारता हूं तो ये भी मेरे स्वभाव नहीं हैं क्योंकि इनके कारण मेरे भीतर घोर आकुलता होती है। मेरा ज्ञान मलीन होजाता है, मुझे बड़ा दुःख माल्रुम होता है। वास्तवमें यह भी मोहनीय कर्मका रस है। मोहनीय कर्मके विपाकसे आत्माके सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान गुणोंका विभाव परिणमन होता है। आत्मा अपने स्वभावमें परम वीतराग व शांतस्वरूप है। इसकी शांतिका कोई घात नहीं कर सक्ता। जहां शांति है वहां आनन्द रहता है।

भेदविज्ञानकी दृष्टिसे विचारते हुए यह आत्मा परमात्माके साथ सदृशता रखता है। यह ज्ञानी अब सर्व विकारी भावोंको त्यागकर निजानन्दमय आत्माके रमणीक बागमें रमण करता हुआ जिस सन्तोष व सुखको प्राप्त कर रहा है उसका वर्णन नहीं होसक्ता है।

१३–आत्मा अकर्ता अभोक्ता है।

एक ज्ञानी महात्मा सर्व तरफसे चित्तको मोड,–प्रमाद भावको छोड़ जगतकी रचनापर विचार कर रहा है। बुद्धि यही कहती है कि इस जगतकी सर्व रचना अनादि है। अनादि वस्तु अकृत्रिम होती है। जगत द्रव्योंका एक समूह है। द्रव्य सब सत् होते हैं। तथापि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हैं। जगतके सर्व ही द्रव्य परिणमनशील हैं तथापि स्वभावसे ध्रुव हैं। वायुसे मिलकर जल और जलसे वायु होती है। लकड़ीका कोयला, कोयलेकी राख होती है। समुद्रके जलसे भाफ, भाफसे मेघ, मेघसे जल होता है। अवस्था बदलती है परन्तु जड पुद्गलोंका न जन्म है न नाश है। जगतमें

चेतनता व अचेतनता दोनों गुण अनुभवगम्य हैं। चेतनता गुणका धारी जीव, अचेतनता गुणका धारी अजीव कहलाता है। शुद्ध निर्विकार ज्ञानानंदमय अशरीर परमात्मामें न इच्छा न प्रयत्न, न विकार न क्रिया, कुछ भी संभव नहीं है, जो उसने किसी समय इस जगतका निर्माण किया हो। न वह इस जगतका उपादान कर्ता है न वह निमित्त कर्त्ता है। परमात्माके सदृश्य हरएक आत्मा भी है। यदि ज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जावे तो इस आत्माका स्वभाव भी यही है। न यह किसीका उपादान कर्ता है न यह निमित्त कर्ता है। संसारी आत्माएं कर्मबंध सहित अशुद्ध हैं, उन कर्मोंके प्रभावसे मन वचन कायद्वारा योग चलते हैं व रागद्वेष मोहपूर्ण उपयोग होता है। बस येही योग व उपयोग ही जगतमें निमित्त कर्ता होजाते हैं। यदि कर्मोंका सम्बन्ध न हो तो यह आत्मा भी परमात्माके समान अकर्ता ही है।

भेदविज्ञान बताता है कि मैं एक अकेला अकर्ता, अभोक्ता, अविनाशी, अमूर्तिक, ज्ञाता, दृष्टा, निर्विकार, सत्, शुद्ध, परमानंदमय, बन्ध व मोक्षकी कल्पनासे रहित तथापि नित्य मोक्षरूप, परमसिद्ध हूं। इसके सिवाय कुछ भी मेरा नहीं है। मैं अब सर्वसे नाता तोड़, आप आपमें हितको जोड़, सर्व विकल्प जालोंसे मुक्त हो निज शुद्ध बुद्ध परमात्माको परमगुप्त शय्यापर शयन कराता हुआ स्वानुभूतितियासे संलग्न होकर जिस आनन्दामृतका पान कररहा हूं वह वचन अगोचर व मनसे भी परे है।

१४–अन्तरंग जगत विहार।

एक ज्ञानी महात्मा एक परमाणु द्वारा घेरने योग्य एक आकाशके प्रदेशकी तरफ दृष्टिपात करता है तो उस एक प्रदेशके भीतर अनन्त सूक्ष्म स्कंध भरे हुए हैं। जीवोंके प्रदेश भी हैं, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायके पदार्थ हैं, कालका एक अणु है। एक जीव घनांगुलके असंख्यातवें भाग जघन्य शरीरकी अवगाहना करता है। असंख्यात प्रदेश संकुचित होकर इतने होजाते हैं तब एक प्रदेशमें संकुचित कितने ही प्रदेश आसक्ते हैं। इन संकुचित आत्म प्रदेशोंके साथ अनन्त तैजस व कार्माण वर्गणाएं हैं। एक२ वर्गणामें अनंत अपूर्व शक्ति भरी हुई है। यद्यपि इस एक प्रदेशमें छहों द्रव्य हैं तथापि प्रयोजनभूत एक जीव द्रव्य है क्योंकि वह ज्ञाता भी है ज्ञेय भी है, अन्य पांच द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। शुद्ध जीव द्रव्य परमात्मा स्वरूप है। इस जगतमें जीव द्रव्य अनन्त हैं। सबकी सत्ता एक दूसरेसे भिन्न है, तथापि स्वभावसे सब समान हैं। भेदविज्ञानके प्रतापसे सर्व ही जीव परसे रहित एकाकार शुद्ध दृष्टिगोचर होरहे हैं। मुझे तो अपने स्वरूपसे प्रयोजन है। मेरा स्वरूप अन्य शुद्ध आत्माओंके समान होनेपर भी अपनी सत्ताद्वारा निराला ही है। जो कोई अपने ही स्वभावमें तन्मय होता है उसीको ही अपने भीतर भरे हुए अतीन्द्रिय आनन्दका अपूर्व स्वाद आता है।

वास्तवमें भेदविज्ञान ही स्वात्मानुभवके लिये परमोपकारी साधन है, स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वहीं निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्रकी एकता है।

इस स्वात्मानुभवके विहारी महात्मा बाहरी जगतमें रहते हुए भी जगतसे भिन्न रहते हैं और अन्तरङ्ग आत्म जगतमें सदा जागते रहते हैं। इस जागृत अवस्थाके होते हुए मिथ्यात्व, अविरति, क्रोधादि कषाय अपना आक्रमण नहीं करते हैं। तृष्णाकी ज्वाला शमित होजाती है। अविद्याकी कालिमा मिट जाती है। मोहमई मूर्छा अस्त होजाती है। इन्द्रियोंकी चाहकी दाह बुझ जाती है। मनके विचार बंद होजाते हैं। संसार सम्बन्धी भावोंका पता नहीं चलता है। व्यवहारनय, निश्चयनय तथा सप्तभंगरूप नयका ज्ञान भले ही धारणामें रहे परन्तु उपयोगमें इनकी तरङ्गावली मुद्रित होजाती है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्यके भेद प्रभेद, ज्ञानावरणादि आठ कर्म व उनके उत्तर भेद व उनके आस्रव, बन्ध, उदय, उदीरणा, निर्जराके प्रकार भले ही धारणामें रहें परन्तु शुद्धोपयोगकी भूमिकामें इनका पता नहीं चलता है। स्वात्मानुभवी एक ऐसी सूक्ष्म दशामें पहुंच जाता है जिसमें सिवाय स्वात्मानन्द भोगके और कोई तरङ्ग नहीं झलकती है। यही भेदविज्ञानरूपी मित्रकी कृपाका फल है। धन्य है भेदविज्ञान! तुम छद्मस्थोंके सदा मित्र बने रहो।

१५—दालमें नमक।

एक ज्ञानी महात्मा चित्तको स्थिर करके जब अपने भीतर विचार करता है तब उसको यह दिखता है कि मैं जड व चेतनका एक ऐसा मिश्रित पिण्ड हूं जो अनादिकालसे एकमेक होकर चले आरहे हैं। इनका घनिष्ट मिश्रण ऐसा भयंकर है कि यह आत्म-

ज्ञानी होते हुए भी. मदिरा पीनेवाले प्राणीकी तरह उन्मत्त होकर अपनेको बिलकुल भूल रहा है। अनादिकालसे जो २ स्थावर व त्रसपर्यायें प्राप्त की हैं उनमें ही अपनापन मानता चला आया है। कर्मके उदयसे प्राप्त भेषोंमें ही अपना असलीपना इस मूढ़ प्राणीने मान लिया है। उन भेषोंमें रहते हुए जिन पदार्थोंके संयोगसे साता जानी उनसे राग व जिनसे असाता जानी उनसे द्वेष करता हुआ यह प्राणी और भी दृढ़ कर्म-बन्धनोंसे जकड़ा हुआ मिश्रित भावमें उलझता रहा है। श्री गुरुके प्रतापसे आज इसने भेदविज्ञानकी दृष्टिका लाभ प्राप्त किया है। इस दृष्टिसे देखते हुए इसे सर्व सच्चा भेद खुल जाता है। मिश्र पदार्थ अपना असली स्वरूप भिन्न झलका देते हैं। तब इसे बोध होजाता है कि मैं तो सर्वज्ञ, वीतराग, अमूर्तिक, परमानंदमय, एक शुद्ध आत्मिक द्रव्य हूं। मेरा सम्बन्ध न किसी पुद्गलके एक परमाणुसे है न अन्य आत्माओंसे है, न आकाश, काल, धर्म, व अधर्म द्रव्योंसे है। जैसे दालमें नमक घुल रहा है, वैसे मैं अचेतनकी पर्यायोंमें घुल रहा हूं। जैसे दालसे नमक अलग है वैसे मैं सर्व अचेतन कृत पर्यायोंसे निराला हूं।

भेदविज्ञान वह मित्र है जो वस्तु स्वरूपको यथार्थ झलका देता है। इस हीके प्रतापसे इसे अपनी खोई हुई स्वतंत्रता अपने ही भीतर झलकती है। यह परतंत्रतासे उदासी पाता है और स्वतंत्र होनेके लिये स्वतंत्रताका ही ध्यान करनेमें उपयुक्त होजाता है। सोऽहम् मंत्रकी शरण लेते हुए यह सिद्ध सम अपनेको ध्याता है। ध्याते २ यह कभी कभी स्वरूपमें स्थिरता पालेता है, तब मन

वचन, कायसे अतीत होकर शुद्ध आत्माके उपवनके विलासमें ऐसा तन्मय होजाता है कि उसे परमानन्दका अपूर्व लाभ होता है। हमारे ऐसे तटस्थ पुरुष उस व्यक्तिका वर्णन भले ही करें परन्तु वह ऐसी सौम्य स्थितिमें पहुंच जाता है कि उसको मैं क्या हूं, क्या नहीं हूं, मैं एक हूं या अनेक हूं, मैं द्वैत हूं या अद्वैत हूं इसकी कोई खबर नहीं रहती है। वास्तवमें उसके अनुभवमें एक मात्र अद्वैत आत्माका ही स्वाद आता है। यही मोक्षमार्ग है व यही स्वतंत्रता पानेका अमोघ मंत्र है। यही वचनातीत भाव है।

१६-अध्यात्मिक समुद्र-स्नान।

एक ज्ञानी आत्मा जब भलेप्रकार विचार करता है तब उसे पता चलता है कि जगत एक कोई अखण्ड द्रव्य नहीं है, किन्तु यह जगत अनेक भिन्न२ द्रव्योंका समुदायरूप एक ऐसा ही समूह है जैसा अनेक वृक्षोंका समुह एक वन होता है। इस जगतमें क्या है, सो प्रत्यक्ष प्रगट चेतन और अचेतन है। इन्हींके मूल भेद जैन सिद्धांतने छः द्रव्य बताये हैं। भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखते हुए सर्व ही अनन्तानन्त जीव सर्व ही अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु, सर्व ही असंख्यात कालाणु व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाश द्रव्य ये सर्व जुदे जुदे ही प्रतिभासते हैं। इस प्रतिभासमें मेरा स्वभाव सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्मसे भिन्न परमात्मावत् शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परमानन्दमय झलकता है। भेद-विज्ञानको न पाकर यह अज्ञानी जीव मलीन जलपानकी तरह राग-द्वेष विशिष्ट अशुद्ध आत्माका ही अनुभव करता है। परन्तु

भेदविज्ञानके प्रतापसे जब शुद्ध निश्चयनयरूपी निर्मलीको अपने ही अशुद्ध आत्माके ही भीतर डाल दिया जाता है तब अपना ही आत्मा परम शुद्ध अनुभवमें आता है। वास्तवमें शुद्ध स्वरूपकी भावनाका साधन भेदविज्ञान है तथा शुद्ध स्वरूपकी भावनाका फल निर्विकल्प समाधि या स्वात्मानुभव है। स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। इसीमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता है। यही योग है जो शिवनारीको आकर्षित करता है। यही वह औषधि है जो अज्ञान व कषायके रोगको शमन करती है। यही वह मंत्र है जो मोह सर्पके विषको निवारण करता है। यही वह अद्भुत वादित्र है जो चेतनाको अपने स्वरूपमें सदा जागृत रखता है। यही वह कमल पुष्प है जिसमें सम्यग्दृष्टी जीवरूपी भ्रमर आसक्त होकर उससे हटना नहीं चाहता है। यही वह चादर है जिसे ओढकर कर्मकी शर्दी नहीं सताती है। यही वह समुद्र है जहां स्नान करनेसे रागद्वेषका मल बह जाता है। मैं आज सर्व और नदियोंका स्नान त्याग कर इस आध्यात्मिक समुद्रमें ही निरंतर अवगाहन करता हूं जिससे मैं सदा ही भव-संतापके आतापसे शून्य रहूं और परम सुखशांतिका भोग करूं।

१७—आत्मसमुद्रका दर्शन।

ज्ञातादृष्टा आत्मा सर्व जगतके प्रपंचजालसे रहित होकर जब निश्चिंत बैठता है तब वह भेदविज्ञानकी सहायतासे तत्वका विचार करता है। यद्यपि व्यवहारनयसे जैन सिद्धांतने जीवादि सात तत्व व पुण्य पाप सहित नौ पदार्थोंका विवेचन किया है और इनके

श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बताया है । तथापि निश्चयनय इनका प्रतिषेध करता हुआ भेदविज्ञानकी तराजूसे तौलकर इन सात तत्व व नौ पदार्थोंमें केवल जीव और पुद्गल इन दोही द्रव्योंको बताता है । भेदविज्ञान बताता है कि जीव जब ज्ञाता है तब पुद्गल अज्ञानी है। जब जीव ध्रुव है तब शरीरादि पुद्गल अध्रुव हैं । जब जीव शांतिसागर है तब पुद्गल शांतिमें बाधक है । जीव जब सुखका धनी है तब पुद्गल दुखोंका मूल कारण है । जीव जब बंध मोक्षकी वासनासे रहित है तब पुद्गल बन्ध मोक्षकी चर्चामें लगाता है । जीव जीवरूप है, पुद्गल पुद्गलरूप है । पुद्गल जीवका विरोधी है । इससे त्यागने योग्य है । जीव ग्रहण करने योग्य है । जहां भेदविज्ञानके प्रतापसे अपने ही आत्माको ज्ञातादृष्टा आनंदमई सिद्धसम शुद्ध द्रव्य अनुभव किया जाता है वहीं सम्यग्दर्शनका साम्राज्य प्राप्त होता है । भेदविज्ञान ही सम्यक्तका उद्योत कराता है । सम्यक्त ही मोक्षमार्गमें प्रधान है । रुचिके विना कोई कार्य नहीं होता है । रुचि विना भोजन स्वादिष्ट नहीं भासता है । रुचि विना वार्तालापमें रस नहीं आता । रुचि विना शास्त्र पाठ लाभ नहीं करता, रुचि विना पूजनका आनंद नहीं होता, रुचि विना कोई भी कार्य यथार्थ नहीं होसक्ता है । इसी तरह रुचि विना आत्मोद्धार भी नहीं होसक्ता है । आत्मोद्धारकी रुचि ही सम्यग्दर्शन है । सम्यक्ती जीव जगतकी रचनाको पर्यायोंकी अपेक्षा नानारूप व द्रव्यकी अपेक्षासे छः द्रव्यरूप देखता है । सर्व ही आत्माओंको द्रव्य दृष्टिसे एकरूप जानकर सबको परमात्मावत् देखकर रागद्वेषके विकारोंसे

रहित होजाता है। पूज्य पूजक, ध्याता ध्येयके विचारको भी लांघ डालता है। ऊँच नीचका भेद नहीं रहता है। सर्व ही शुद्ध जीव जब दिखलाई पड़ते हैं तब जगतकी आत्माओंका एक समतारससे पूर्ण समुद्र बन जाता है। ज्ञानी जीव इसी अमृतमई सागरमें स्नान करनेको परम स्वच्छता कारक मानता है। यही स्नान कर्ममैलको धोना है। जितने महात्मा गत समयमें पवित्र हुए हैं वे इसी उपायसे हुए हैं। शुद्धात्मारूपी समुद्रका स्नान ही परम स्नान है। यह समुद्र हरएक ज्ञानी आत्माके भीतर सतत रहता है। जिनको भेदविज्ञानका लाभ नहीं है वे अपने भीतर बहते हुए भी इस निर्मल समुद्रका दर्शन नहीं कर पाते हैं। वे कठिन२ तप साधते हुए भी कर्मबन्धसे और अधिक जकड़े जाते हैं। निजात्मीक स्नान ही शुद्धिका मार्ग है ऐसा समझना परम हितकारी है। मैं आज इसी बातको ध्यानमें लेकर सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित हो अपने ही आत्मसमुद्रमें मज्जन करता हुआ जो सम्यक्त बोध व निजानंद प्राप्त कर रहा हूं उसका न तो विवेचन होसक्ता है न मनन होसक्ता है। वह तो अनिर्वचनीय एक अद्भुत बात है।

१८—मेरा दशलक्षण धर्म।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंसे निवृत्त होकर एक कोनेमें बैठा हुआ अपने जीवनके सिद्धांतपर विचार कर रहा है। उसको पता लगता है कि उसके भीतर दो प्रकारका जीवन होरहा है। एक तरफ तो क्रोधका दौरदौरा है तो दूसरी तरफ क्षमाका राज्य है। एक तरफ मानकी कठोरता है तो दूसरी तरफ मार्दवकी नम्रता है।

एक तरफ मायाका जाल बिछा हुआ है तो दूसरी तरफ सरलताका साफ सुथरा पवित्र मैदान दिखाई देता है। एक तरफ लोभकी वासनाएं दौड़ दौड़कर चित्तको आकुल व्याकुल कर रही हैं तो दूसरी तरफ संतोष व पवित्रताका अमृत भरा हुआ है। एक तरफ असत्य भाव अपना विकट स्वरूप झलका रहे हैं तो दूसरी तरफ सत्यकी पवित्र वायु चलकर सबको शांति पहुंचा रही है। एक तरफ असंयम भाव अपनी अविचारपूर्ण स्वच्छंदताको फैलाकर अन्याय व अभक्ष्यमें प्रेरणा कर रहा है तो दूसरी तरफ संयम भाव आकर आत्माकी मधुर व रसीली मिठासमें आसक्त कर रहा है। एक तरफ इच्छाओंका विस्तार फैलकर क्षोभका राज्य जमा रहा है तो दूसरी तरफ आत्म तपन रूप तप भाव निराकुल सुख व शांतिभावका श्रोत बहा रहा है। एक तरफ अत्यागभाव कृपणता फैलाकर कठोरताके पर्वतपर चढ़ाकर नीचे गिरा रहा है तो दूसरी तरफ त्यागधर्म उदार बनाकर स्वपरोपकारके लिये सर्वस्व त्यागकी भावना जागृत कर रहा है। एक तरफ परिग्रहका मोह जगतके फंदोंमें उलझाकर रात दिन परका दास बना रहा है तो दूसरी तरफ आर्किचन्य धर्म सर्व परिग्रहसे मोह छुड़ाकर व परम आत्माकी एकतामय रत्नत्रय भूमिमें आराम दिलाकर अद्भुत निराकुल भाव जागृत कर रहा है। एक तरफ कुशील व कामका भाव मनको विह्वलकर इंद्रियाधीन सुखकी तृष्णामें आकुलित कर रहा है तो दूसरी ओर ब्रह्मचर्यका परम मनोहर पवित्र शील भाव परम शुचितामें बिठाकर परम मंगलमय निर्शंगका दर्शन करा रहा है। इस तरह अपने भीतर दो विचित्र

धाराओंको वहती हुई देखकर यह ज्ञानी विचारता है कि यह विचित्रता क्यों है? गंगा यमुनाका संगम प्रगट करता है कि गंगाका पानी जब श्वेत है तब यमुनाका पानी नीला है। इसी तरह भीतरमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य व ब्रह्मचर्यकी धाराएं झलकाती हैं कि यह सब आत्मारामका ही प्रादुर्भाव है। आत्मगुणावलिकी ही धाराएं हैं। जब कि क्रोध, मान, माया व लोभ, असत्य, अस्तेय, इच्छा, अत्याग, परिग्रह व अब्रह्मकी कृष्ण धाराएं बताती हैं कि यह सब पुद्गल कर्ममल शरीरके विकार हैं। द्वैतके साम्राज्यमें ही ऐसी विचित्र अवस्था होसक्ती है। अब यह ज्ञानी भेदविज्ञानकी दृष्टि फैलाता है। आत्मा व पुद्गलकी भिन्न भिन्न परस्पर विरुद्धताका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। मैं आत्मा हूं न कि पुद्गल, इस भावको जागृत करके आत्मा सम्बन्धी धाराओंको अपनी समझ व पुद्गल सम्बन्धी धाराओंको पर समझ अपनी धाराओंमें अनुरक्त होजाता है। इस भेदविज्ञानके प्रतापसे एक ही पवित्र धारामें अवगाहन करता है, पुद्गलके विकारसे छूट जाता है। मंगलमय आत्मीक गानको गाकर व आत्मीक वादित्र बजाकर यह एक आत्माकी तानमें मग्न होजाता है, तब जो परमानन्द पाता है उसका अनुभव करना दूसरेके लिये अतिशय दुष्कर है।

१९–आत्म-देवाराधन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर एकांतमें बैठकर मनन करता है, तब उसको यह भान होता है कि मैं एक ऐसा व्यक्ति क्यों रहा हूं जिसमें हर समय रागद्वेष मोहका साम्राज्य

वर्त रहा है, जिसमें अज्ञानका भाव वर्त रहा है । क्यों मेरा जन्म मरण होता है । क्यों रोग शोक आदि होता है । क्यों इष्टका वियोग व अनिष्टका संयोग होता है । क्यों पुरुषार्थ करनेपर कार्य सफल नहीं होता है । इसपर गंभीरतासे विचार करते हुए उसको यह झलकता है कि मैं मलीन जलके समान अशुद्ध हूं । जैसे जलका स्वभाव निर्मल, शीतल तथा मिष्ट होनेपर भी मिट्टीके संयोगसे उसमें मलीनता, उष्णता तथा खारापना झलक रहा है वैसे इस मेरे आत्माका स्वभाव ज्ञानमई, शांतिमई तथा आनन्दमई होनेपर भी मेरे भीतर सूक्ष्म कर्मोंके संयोगसे अज्ञान, अशांति तथा दुःख झलक रहा है ।

सूक्ष्म कर्मवर्गणाओंसे बना हुआ शरीर अदृश्य होनेपर भी अपने कार्यसे दृश्य होरहा है । कार्यके देखनेपर कारणका अनुमान किया जाता है । किसीका मुख उदास देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसको इष्टवियोगका कोई दुःख है । क्रोधसे तमतमाते हुए मुखको देखकर यह जान लिया जाता है कि उसकी किसीसे लड़ाई हुई है । यद्यपि लड़ते हुए उसने नहीं देखा है तौभी उस लड़ाईके फलसे जो अवस्था झलक रही है उससे कारणका अनुमान किया गया है । यदि कहीं दिनके १२ बजेका समय होते हुए भी छाया हो तो तुर्त अनुमान होता है कि बादलोंने सूर्यको ढक लिया है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि यह जानता है । जाननेका स्वभाव सिवाय आत्माके और कहीं नहीं पाया जासकता है । तथा उस ज्ञानकी तरक्की भी होती है । ज्ञान कहीं बाहरसे नहीं आता है । इससे सिद्ध है कि जितना अज्ञानका परदा हटा है उतना ज्ञान

प्रकाशित है। जितना अज्ञानका पर्दा नहीं हटा है उतना ज्ञान छिपा है। अज्ञान होरहा है वह सूक्ष्म ज्ञानावरणी शरीरका ही है। आत्मामें जब शांति झलकती है तब आत्माका ज्ञान निर्मलतासे काम करता है। किन्तु जब अशांति आजाती है तब ज्ञान विकारी व आकुल हो जाता है इससे सिद्ध है कि आत्माका स्वभाव तो शांतिमय है। जो कुछ क्रोध, मान, माया, लोभकी आकुलता है वह किसी मलके संयोगसे है इसीको मोहनीय कर्मके सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध कहते हैं। आत्मामें दुखकी वेदना तब ही होती है जब अशांति होती है। जब शांति होती है तब स्वाभाविक सुखकी वेदना होती है। इससे सिद्ध है कि आत्माका स्वभाव आनंदमय है। आनंदका निरानंदमें होजाना सूक्ष्म मोहनीय आदि कर्मोंका असर है। तब मैं आत्मा सिद्ध भगवानके समान ज्ञातादृष्टा, अमूर्तीक, परम निर्विकार, परम शांत, परमानन्दमय एक चेतनदेव अपने ही शरीर मंदिरमें विराजित हूं। मैं सर्व और भावोंको छोड़कर एक इस ही आत्मदेवकी आराधना करके जो अदभुत आनन्द पाता हूं वह केवल अनुभवगम्य है।

२०—अद्वैतानुभव।

एक ज्ञानी आत्मा एक साधुको तपस्या करते हुए देखकर विचार करता है कि इसका भाव कौनसे गुणस्थानमें होसक्ता है। वर्तमान पंचम कालकी अपेक्षा उसका भाव प्रमत्तविरत तथा अप्रमत्तविरत छठे व सातवें गुणस्थानमें हो सकता है। प्रमत्तविरत गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, तथा सम्यक्चारित्र है परन्तु प्रमाद भावसे मिश्रित है, क्योंकि संज्वलन कषाय और नौ

कषायका तीव्र उदय है। अप्रमत्तविरतमें रत्नत्रयके साथ इन्हीं १२ कषायोंका मंद उदय है। यहां आत्मा और कर्म पुद्गल दोनोंका मिश्रित भाव उपस्थित है। रत्नत्रय आत्माका स्वभाव है। दर्शन मोहनीय कर्मके तथा अनंतानुबंधी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण कषाय तथा प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयके न होनेसे जितना आत्माका रत्नत्रय गुण विकासको प्राप्त है, उतना आत्मद्रव्यका प्रकाश है, उसीके साथ जितना संज्वलन कषायका उदय है व ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायका उदय है उतना अन्धकार है या कालुष्य भाव है। यह कर्म पुद्गलका झलकाव है। भेदविज्ञान कहता है कि कर्म पुद्गल जब आत्मासे भिन्न द्रव्य है, तब इसको बुद्धिबलसे भिन्न ही कर देना चाहिये। और अकेले एक आत्मद्रव्यको ही आत्मद्रव्यरूप देखना चाहिये तब यह आत्मा अपने निज पूर्ण प्रकाशमें जाज्वल्यमान स्वाभाविक भावमें कल्लोल करता हुआ ही दिखलाई पड़ेगा। वहां संसारी व मोक्ष अवस्थाका तथा अशुद्ध व शुद्ध अवस्थाका कोई विचार नहीं होगा। वहां तो वह आत्मा अपने ही एक रसमें प्रवाहित यथा तथा ही झलकेगा। सूर्यके समान सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, अनंत वीर्यमय परम वीतराग, परम सम्यक्तरूप, परमानन्दमय, अमूर्तीक, परमात्मस्वरूप, परमेश्वर, परमशिव, परमप्रभु, परमऐश्वर्यमय, सहजानन्दी, परम स्वभावरमी, परम मंगलरूप दिखलाई पड़ेगा। मैं ऐसा ही हूं, अन्य किसी भी कर्मसंयोग वश उत्पन्न दशारूप मैं नहीं हूं। यह भेदविज्ञान जब उत्पन्न होता है तब द्वैतभावका अभाव होता है। दृष्टिपथसे परको अलग कर देनेसे तथा आपको आप स्वभावमें सन्मुख

कर देनेसे यकायक अद्वैत भाव जग उठता है। इसहीको स्वानुभव, स्वसंवेदन, स्वरूपाचरण व आत्मध्यान कहते हैं। यही कर्मोंके दग्ध करनेको परम अद्भुत अग्नि है। यही मोक्ष मार्ग है। यही परमामृत-प्रद औषधि है जो आत्माको पूर्णताकी तरफ ले जारही है। जो इस स्वानुभवमें तन्मय है उसको कोई विचारकी तरंगावली नहीं उठती है, वह तो आत्मरस पानमें उसीतरह मग्न होजाता है जिसतरह भ्रमर कमलरस पानमें तन्मय होजाता है। उसे रात दिनकी खबर ही नहीं रहती है। जीने मरनेकी चिंता भी नहीं रहती है। इसी तरह स्वानुभवी योगीको जीव अजीवकी कल्पना नहीं होती है। अस्ति, नास्ति, एक अनेककी भावनाएं सब क्षय होजाती हैं। अद्वैत भावमें एक-आत्मीक आनन्दके रसका पान होरहा है। उसकी स्वरूप आसक्ति वचनके गोचर नहीं है। वास्तवमें स्वानुभवके समयमें स्वानुभव कर्ताके मन, वचन, काय अपनी क्रियासे रहित होगये हैं। तब इस भावको वही जान सकते हैं जो स्वयं मन, वचन, कायके कार्यसे रहित हो, आप आपमें स्थिर होजावे। धन्य है भेदविज्ञान! तेरे ही प्रतापसे आत्माका साक्षात्कार होता है।

२१–निर्विकल्प समाधि।

एक ज्ञानी आत्मा जगन्मात्रके जीवोंसे प्रेमालु होता हुआ एक उद्यानकी सैर कर रहा है। उस वनमें आम, नारंगी, केला, अमरूद, अनार, सेब, अंगूर, फालसे, जामन, बेर, इमली आदिके वृक्ष प्रफुल्लित होरहे हैं। कहीं गुलाब, चमेली वेला, केवड़ा, केतकी, चम्पा आदिके सुगन्धित फूल फूलरहे हैं। कहीं २ मनोहर पत्तोंसे

शोभित नीम, पीपल, वगंत आदिक वृक्ष शोभनीक हैं । उद्यानमें बहुत छोटे, मध्यम, व दीर्घकायी अनेक वृक्ष हैं । सर्व अपनी २ मर्यादामें विराजित हैं । कोई किसीको हानि नहीं पहुंचा रहा है । वास्तवमें इस उद्यानमें पूर्ण अहिंसाका दृश्य नजर आरहा है । न कोई वृक्ष किसीसे राग करता है न कोई किसीसे द्वेष करता है । वीतरागता तथा समता भावके राज्यमें हिंसा कैसी ? इसी दृष्टांतसे ज्ञानी जीव सर्व जीवमात्रकी सांसारिक सत्ताका जब विचार करता है और किसी समय उनको सोई हुई अवस्थामें पाता है तब उस समय भी व्यवहारके ऊपर कथित दृष्टांतके समान वहां परस्पर अहिंसात्मक भाव ही देखता है, न कोई किसीसे राग करता है न कोई किसीसे द्वेष करता है ।

अब यही भेदविज्ञानकी दृष्टिसे जगतके सर्व प्राणियोंको देखता है तो मालूम करता है कि नारकी और देवोंके साथ पौद्गलिक तीन शरीरोंका सम्बन्ध है । वैक्रियिक, तैजस तथा कार्माण शरीर । आत्मा सर्व नारकी तथा देवोंका समान शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा वीतराग आनन्दमय व अमूर्तिक अविनाशी दिखलाई पड़ता है । मानवों व तिर्यंचोंमें औदारिक, तैजस कार्माण शरीरोंका सम्बन्ध है । किसी मुनिके साथ आहारक शरीरका भी सम्बन्ध है । आत्मा सर्व ही पशु व मानवोंका शुद्ध ज्ञानानन्दमय परमात्मावत् निरंजन निर्विकार है । भेदविज्ञान पुद्गल और जीवोंके संयोगजनित भावोंको या उनकी संयोगिक अवस्थाओंको भिन्न २ जानकर आत्माको आत्मारूप तथा पुद्गलको पुद्गलरूप देखता है । एक प्रकाश है तो दूसरा अंधकार

है। एक अमूर्तिक है तो दूसरा मूर्तीक है, एक नित्य है तो दूसरा स्कंधापेक्षा या संस्कारापेक्षा अनित्य है। एक सुखरूप है तो दूसरा दुःखरूप है, एक सुखका कारण है तो दूसरा दुःखका कारण है, एक मोक्षरूप स्वतंत्र है तो दूसरा बंधरूप व परतंत्र है। एक ग्रहण-करने योग्य है तो दूसरा त्याग करने योग्य है। जैसे विवेकी दालसे छिलकेको, चावलसे भुसको, सुवर्णसे किट्ट कालिमाको, पानीसे कादेको, जलसे कमलको, जलसे अग्निको, समुद्रसे पवनको, तेलसे तिलभूसीको, अग्निसे ईंधनको, ज्ञानसे ज्ञानावरण कर्मको, दर्शनसे दर्शनावरणको, आत्मवीर्यसे अंतराय कर्मको, सम्यग्दर्शनसे मिथ्यादर्शनको, स्वरूपाचरण चारित्रसे अनंतानुबंधी कषायको, वीत-राग भावसे अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान व संज्वलन कषायको, आत्मा-नंदसे विषयसुखको भिन्न २ जानता है; वैसे वह आत्माको सर्व अनात्माओंसे, पुद्गल, धर्म, अधर्म, अकाश, कालसे, तथा सर्व अन्य आत्माओंसे भिन्न जानता है। भेदविज्ञानके प्रतापसे आत्माको आत्मस्वरूप जानकर तथा श्रद्धानकर उसीमें आचरणरूप होजाता है, आत्मानुभवका अपूर्व भाव जागृत होजाता है। तब वह एक निर्विकल्प समाधिमें पहुंचकर जिस मनोहर व अनुपम आनन्दको पाता है वह वचन अगोचर है।

२२–ज्ञानचेतना।

एक आत्मज्ञानी महात्मा एकांतमें बैठकर जब एक जगतका दृश्य विचारता है तो उसे नानारूप भासता है, अनित्य झलकता है; जगत परिवर्तनशील नजर आता है, परन्तु जब वह द्रव्य दृष्टिसे

देखता है तो उसे यह जगत नित्य भासता है क्योंकि यह जगत सत्‌रूप अनादिसे अनन्तकालतक चलनेवाले जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्योंका समुदाय है। इन छहोंके भीतर उसको एक जीवद्रव्य ही सार व ग्रहण करने योग्य दीखता है, क्योंकि जीव अपनेको भी जानता है, परको भी जानता है, जीव ज्ञाता भी है ज्ञेय भी है, जबकि अन्य पांच द्रव्य ज्ञाता नहीं हैं किन्तु ज्ञेय ही हैं, किसीके द्वारा जानने योग्य है। जीव द्रव्य सार है, ऐसा जानते हुए यह भेदविज्ञानी अपने जीव द्रव्यपर आता है। तब वहां १४ गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानको पाता है तथा चौदह मार्गणा-मेंसे सर्वहीका झलकाव अपनेमें पाता है।

गतिमें मनुष्यगति है, इन्द्रियमें पांचों इन्द्रियां हैं, कायमें त्रस काय है, योगमें मन, वचन, काय तीनों योग हैं, वेदमें तीनों हीका झलकाव है, कषायमें सर्व ही अपना राज्य जमा रही हैं, ज्ञानमें मति व श्रुत दो हैं, संयममें असंयमभाव है, दर्शनमें चक्षु अचक्षु दो दर्शन हैं, लेश्यामें छहोंके होनेका पात्र है, भव्यमें भव्य है, सम्यक्तमें क्षयोपशम सम्यक्ती है, सैनी है तथा आहारक है, परन्तु जब अपनेको द्रव्यदृष्टिसे देखता है तब वहां न कोई गुणस्थान नजर आता है न कोई चौदह मार्गणाएं ही दीखती हैं। पानीमें भिन्न २ प्रकारके रंगोंके मिश्रणके कारण जैसे पानीके अनेक भेद होजाते हैं वैसे जीवमें नाना प्रकार कर्मोंके मिश्रणके कारण जीवके नाना भेद होजाते हैं। जैसे पानी रंगके मेल विना अपनी निर्मलतामें झलकता है वैसे यह जीव कर्मके मेल विना अपनी शुद्ध चिदाकार परिणतिमें

सदा झलकता है। इसतरह भेदविज्ञानके प्रतापसे यह ज्ञानी अपनेको सिद्ध भगवानके समान परमशुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई व वीतराग अनुभव करता है। अपनी सत्ताको अन्य आत्माओंकी सत्तासे भिन्न जानता है।

अब यह चंचलतासे मुंह मोडता है, मनद्वारा विचार करना, वचनोंका बोलना व शरीरका हलनचलन छोड़ता है। कर्मजनित अपनी सर्व अंतरंग व बहिरंग अवस्थाओंसे भी उदास होजाता है। एकाकार ज्ञानचेतनाके स्वादमें मगन हो यह ज्ञानी दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि गुणोंको धरता हुआ भी उनकी तरफसे रागरहित होजाता है। केवल एक अभेद अनुभवगम्य निजात्माके अखंड अमृतमई रसका पान करता हुआ जिस सुखशांतिको भोगरहा है वह वर्णनातीत व चिन्तनातीत है।

२३—आत्मीक उपवन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको दूर कर एकांतमें जाकर भेदविज्ञानकी महिमाका विचार करता है। इस दृश्यमान जगतमें यदि देखा जावे तो सर्व ही पदार्थ विचित्रताको दिखा रहे हैं। आत्माएं नाना प्रकार कर्मोंके रंगसे रंजित होकर देव, पशु, नर, नारकरूप व क्रोध, मान, माया, लोभरूप व मुनि, गृहस्थ, श्रावक, साधारण गृहस्थ व अतिशय अज्ञानी म्लेच्छरूप दिखाई देरही हैं। जैसे—रुईके वस्त्र नाना प्रकारके रंगोंसे रंगे हुए नाना रंगरूप दिखलाई देरहे हैं, वैसे आत्माएं भी भिन्न रूपसे झलक रही हैं। जिस सूक्ष्म जड़ पदार्थका सम्बन्ध है उसने आत्माकी स्वच्छताको

इतना तिरोहित कर दिया है कि आप आत्मारूप होते हुए भी अपने आत्माका दर्शन नहीं होरहा है। इसी कारण अज्ञानका प्रबल जोर है। इस अज्ञानने जगतके प्राणियोंको उन्मत्त बना दिया है। वे पुत्र पौत्रादिके संयोगमें रागी व वियोगमें द्वेषी होजाते हैं। धनादि लाभमें हर्षित व उनकी हानिमें शोकित होजाते हैं। इन्द्रियविषयोंके भोगके तृषातुर होते हुए ये प्राणी उन विषयभोगोंको रोचक करनेके लिये नाना प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी आदि कुकर्म कर लेते हैं। वे शुद्ध आत्मीक सुखके अनुभवसे शून्य हैं। भेदविज्ञानकी आंख जिसको प्राप्त होजाती है वह आत्माको अनात्मासे भिन्न देख लेता है। उसके ज्ञानमें आत्मा परमात्मारूप ही झलकता है। पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय अमूर्तीक अविनाशी दिखता है, शुद्ध आत्माका भाव प्रगट होजाता है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे आत्मज्ञानको पाकर जब यह आत्मस्थ होजाता है, संसारकी वासनाओंको लांघकर वासनारहित मोक्षके भावमें अनुरक्त होजाता है, जगतके विचित्र उद्यानसे पार होकर साम्यके हरितवर्णसे प्रफुल्लित नाना शुद्ध गुणोंके तरुओंसे शोभित एक अनिर्वचनीय उपवनमें पहुंच जाता है तब सर्व विकारोंसे रहित यह आत्मा अपनेको परमात्मरूप अनुभव करता है। इस स्वानुभवके प्रतापसे यह एक अद्वैत भावमें पहुंच जाता है, जहां न कोई शिष्य है न कोई गुरु है। वह सदा ही परमानन्द निमग्न रहा करता है और सर्व आकुलताओंसे छूट जाता है।

२४—सच्चा जौहरी।

एक ज्ञानी आत्मा चर्मचक्षुको बंद करके जब ज्ञानकी चक्षुसे देखने लगता है तो उसको विदित होता है कि एक ऐसा रत्न है

जो पुद्गल या जड़ पदार्थके बहु संचित ढेरमें लुप्त होरहा है। श्रीगुरु-परम भेदविज्ञानी महात्माके उपदेशसे जब उसके यह निश्चय होजाता है कि मेरा अपूर्व रत्न मेरे ही पास है, परन्तु कर्म व नोकर्म पुद्गलोंके ढेरके नीचे दबा पड़ा हुआ है तब उसे जो आनन्द होता है वह वचन अगोचर है। एक दलिद्रीको कोई ऐसा बता दे कि तेरे घरमें निधि गड़ी है, तू खोदेगा तो उसे अवश्य पाएगा। यदि उसे उस वक्ताके कथनपर विश्वास है तो उस दलिद्रीके सुखका पार नहीं होसकता। फिर वह घरको खोदने लगता है। और खोदते खोदते उसे वह निधि अवश्य मिल जाती है। निधि तो बिलकुल परोक्ष ही होती है, परन्तु वह शुद्धात्मारूपी रत्न जो कर्म व नोकर्मके मध्यमें लुप्त पड़ा है बिलकुल प्रच्छन्न नहीं है, उसकी आत्मा झलक रही है। ज्ञान, शांति, सुख, वीर्यकी प्रगटता उसीहीका अंश है। इस कुछ प्रगट लक्षणसे लक्ष्यका निश्चय करके जो कर्मके ढेरको खोदकर फेंकेगा वह अवश्य निजात्मरत्नको झलका पाएगा।

क्योंकि रागद्वेष मोहसे कर्मरजका संचय होता है इसलिये वीतराग भाव ही कर्मरजको फेंकनेमें समर्थ है। इस कारण यह मुमुक्षु वीतरागभावकी प्राप्तिके लिये उद्यमशील होजाता है। जगतकी सर्व पर्यायोंको अनित्य मानता हुआ, इष्टवियोग व अनिष्ट संयोगरूप समझता हुआ, सर्व स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बहन, स्वजन, परजन, मकान, वस्त्र, भोजन, धन, धान्य, राज्यादिसे विरक्त होजाता है, एक शाश्वत् परमानन्दमय निर्वाण सुखको ही उपादेय जानता है। उसकी तरफ लक्ष्य रखना ही वीतरागताको बढ़ा देना है।

वास्तवमें जिसको प्राप्त करना हो उसीको उपादेय मानके पकड़कर खींचनेसे वह वस्तु प्राप्त होजाती है। लकड़ी कीचड़में फंसी है, उसकी मूठ हाथमें है, तब बलपूर्वक खींचनेसे सब लड़की हाथमें आजायगी। आत्माकी निशानी ज्ञान चेतना है अर्थात् ज्ञानानन्दका स्वाद है। इसीकी तरफ उपयोग रखना ही आत्माका सर्वस्व अपने हाथमें प्राप्त करना है। भेदविज्ञानकी महिमा निराली है। इसीसे सर्प और रस्सीका, व्यंजन और लवणका, शीतजल और अग्निकी उष्णताका, जल और दूधका, जल और कीचका, चावल और भूसीका भेद अलग २ झलकता है। वही अनात्माके मध्यमें स्थित आत्माके सर्वांग स्वरूपका दर्शन करता है। जो भेदविज्ञानके पारखी हैं वे ही निर्वाणके सच्चे जौहरी हैं।

२५–अमृतपान।

एक ज्ञानी वीर अपने आपको परम वीर बनानेके अभिप्रायसे भेदविज्ञानकी शरण ग्रहण करता है। भेदविज्ञान वह निर्मल आरसी है जिसके प्रतापसे मूलवस्तु सब पृथक् पृथक् झलक जाती है। मिश्रित पर्यायें जो प्राणीको राग, द्वेष, मोहके उत्पन्न करनेमें सहायक हैं, एकदम नहीं दिखलाई पड़ती हैं। जगतका सम्पूर्ण दृश्य एक मिश्रित पर्यायका ही खेल है। घर, बर्तन, वस्त्र, सामान आदि सर्व पुद्गलकी पर्याय हैं। कानोंसे ग्रहण करने योग्य सर्व ही सुस्वर दुस्वर शब्द पुद्गलकी पर्याय हैं। आंखोंके देखनेमें आनेवाले सर्व ही आकार पुद्गलके स्कन्ध बनने बिगडनेवाले हैं। देखनेमें आनेवाले वर्ण भी पुद्गलके गुण व गुणके विकार पर्याय हैं। आंखोंसे दिखनेवाली धूप, छाया, रोशनी भी पुद्गलकी पर्याय हैं। नाशिकासे ग्रहण योग्य सर्व

ही सुगंध तथा दुर्गंध पुद्गलके गुणोंका विकार है। जिह्वासे जाननेमें आने योग्य सर्व ही प्रकारके रस पुद्गलके ही गुणके विकार हैं। शरीरके स्पर्शमें आनेयोग्य हवा आदि व ठंडा गर्म, रूखा चिकना, नरम कठोर, हलका भारी ये सब पुद्गलकी पर्याय हैं। पांचों इंद्रियोंसे जो कुछ ग्रहणमें आता है वह सब पुद्गल है।

एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके सर्व जीव जंतु पुद्गलके मिश्रित स्कंध हैं। इनमें जीव भिन्न है। जीव ज्ञान दर्शन सुख वीर्य-मय शुद्ध निर्विकार परमात्माके समान है। साथमें रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिक व तैजस व वैक्रियिक व आहारक शरीरादि नोकर्म सब पुद्गलमय हैं। मैं भी जो कुछ हूं सो पुद्गलकी सर्व रचनाओंसे पृथक् हूं।

इस भेदविज्ञानसे द्रव्योंको अलग २ जानकर स्वहित कार्य-कर्ताका यह कर्तव्य है कि प्रयोजनभूत तत्वको ग्रहण करें और सर्व अप्रयोजनभूत तत्वको त्याग करदें। मुमुक्षुका प्रयोजन स्वतंत्रता है तथा स्वाधीन सुख व शांतिका लाभ है। यह हेतु तब ही सिद्ध हो सक्ता है जब सर्व ही अनात्मासे नाता तोड़ा जावे, केवल एक आत्मामें ही रंजकता प्राप्त की जावे। केवल एक अपने आपको ही रुचिमें व ज्ञानमें लाकर आपका ही अनुभव किया जावे। इसलिये मैं सर्व प्रपंच जालोंसे मुंह मोड, केवल एक अपने आत्मासे नाता जोड, रागद्वेष मोहकी जंजीरोंको तोड, सर्व त्यागने योग्य भाव व द्रव्यको छोड, एक शुद्धात्माके ध्यानमें तन्मय होता हूं और उसी ध्यानकी एकतानतामें बैठकर जिस अमृत रसका पान करता हूं, वह किसी भी शब्दसे वर्णन नहीं किया जाता।

२६—स्वरमणोद्यान ।

एक ज्ञानी आत्मा जब सर्व प्रपंचजालोंसे अलग होकर एकांतमें बैठता है तब इसके अंतरङ्गमें ऐसा झलकता है कि वह अमूल्य रत्न है जो अनादिकालसे आने जानेवाले कर्मोंके जल-प्रवाहके भीतर पड़ा है और रागद्वेष मोहकी कलुषित तरंगोंके क्षोभके कारण उसका दर्शन नहीं होता है। मिथ्यात्वके अन्धेरेमें अबतक तो इसे अपनी खबर ही नहीं थी, मिथ्यात्वके अन्धकारके हटानेसे व सम्यक्तका प्रकाश होनेसे इसके भीतर भेदविज्ञानकी दृष्टि झलक गई है। जिससे इसे अपना रत्नसम रूप कर्ममलके बीचमें पड़ा है ऐसा बोध होरहा है। इसको अपने रत्नपनेका पूर्ण निश्चय होगया है। अब केवल इस कर्ममलके ढेरको पृथक् करता है, जिससे अपना रत्न अपने हाथमें आजावे। इस कर्मको चारित्र कहते हैं। चारित्रके लिये भी ज्ञानी जीव भेदविज्ञानका सहारा लेता है।

रागद्वेषकी कालिमाको हटाना ही चारित्र है। वीतराग भाव ही चारित्र है। स्वस्वरूपमें थिरता पाना ही चारित्र है। भेदविज्ञानके प्रतापसे यह ज्ञानी अपनी बुद्धिको तीक्ष्ण बनाता है और उस तीक्ष्ण बुद्धिसे बड़ी चतुरताके साथ अपने ही रत्नकी तरफ दृष्टिको लेजाता है। जब जब दृष्टि निजरत्न पर जमती है तब ही चारित्रका प्रकाश होता है। इस धाराप्रवाही चारित्रके प्रभावसे वीतरागताके अंश बढ़ते हैं, रागद्वेषके अंश घटते हैं जिससे कर्मोंका हटना अधिक व बन्ध अल्प होता है। धीरे२ कर्मोंका मैल अधिक२ दूर होता जाता है। एक दिन ऐसा आजाता है जब रत्नको निकाल

लिया जाता है। तब वह रत्न अपनी मनोहर आत्मासे सदा चमकता रहता है।

इसी रत्नको निर्वाणरूप, मोक्षरूप, सिद्धरूप, ईश्वर स्वरूप, परब्रह्मरूप व परमानन्दमय शांत सुधाका सागर कहते हैं। भेदविज्ञान जगतके सर्व प्रपंचोंसे भिन्न एक अनुभवगम्य पर्यायका संकेत कराता है। जितने भाव साधक अवस्थामें साधक कहे जाते थे वे ही वहां बाधक होजाते हैं। शब्दोंके आडम्बरसे उस अपूर्व पदार्थको बतानेका प्रयत्न किया जाता है तथापि शब्दोंके वाच्य मात्र भावसे उसका पता नहीं चलता है। मनके विकल्प होते हैं उन सबसे बाहर वह है। इसीसे वह विकल्पातीत है। भेदविज्ञानने इतनी तो कृपा की है कि मुझे यह बता दिया है कि इन्हें मैं अनात्मा समझूं।

इन अनात्माओंसे परे जब साधककी प्रज्ञा जाती है तब उसे निज रत्नका दर्शन होजाता है। कठिनसे कठिन व सुगमसे सुगम निज वस्तुको पाना है। अब मैं श्रीगुरुके उपदेशे हुए मार्गके अनुसार मन, वचन, कायकी गुप्तिमई एक अत्यन्त प्रच्छन्न गुफाके भीतर बैठता हूँ। इस गुफाको साम्यभाव कहो, समाधि कहो, सामायिक कहो, मोह क्षोभ रहित आत्मपरिणाम कहो, रत्नत्रयकी एकता कहो, स्वरूपाचरण चारित्र कहो, स्वसमय कहो, स्वात्मध्यान कहो, स्वरमणोद्यान कहो। मैं अब इसी उद्यानमें क्रीड़ा करता हुआ जिस आत्म-स्वसंवेदनका आनन्द पारहा हूं उसका अनुभव, अनुभवकर्ताको ही आसकता है।

२७–अपूर्व सम्यग्ज्ञान।

एक ज्ञानी आत्मा एक वृक्षकी छायाके नीचे बैठा हुआ एक

आमके फलका विचार कर रहा है। वह सोचता है कि इस फलमें बहुतसा निसार है थोड़ासा ही सार है, सार ही खाने योग्य है, शेष त्यागने योग्य है। इसके इस तरहके ज्ञान व श्रद्धान होते ही इसे उस फलके खाने जैसा संतोष होजाता है। इसी दृष्टांतसे जब वह अपने आत्माकी तरफ लक्ष्य देता है तो उसको भेदविज्ञानकी दृष्टिसे यही झलकता है कि मैं एक शुद्ध आत्माराम हूं, परब्रह्म स्वरूप हूं, सिद्धसम शुद्ध हूं, स्फटिक मूर्तिसम निर्विकार हूं, आकाशके समान निर्लेप हूं, वायुके समान असंग हूं, सूर्यके समान तेजस्वी व प्रतापशाली हूं, चन्द्रके समान सुधाका वर्षानेवाला हूं, समुद्रके समान गुणरूपी रत्नोंकी खान हूं। मेरे साथ जो कुछ भी पुद्गलका सम्बन्ध है सब मुझसे निराला है।

भेदविज्ञानकी दृष्टिसे यह अपने भीतर आपको ही परमात्मा रूप देखता है और बार बार यह मनन उसे परमात्मा रूप होनेकी श्रेणीपर आरूढ़ कर देता है। भेदविज्ञानकी दृष्टि बहुत ही मनोहारिणी व सत्य प्राप्त करानेवाली है। भेदविज्ञानरूपी पैनी छेनी है जो आत्माको अनात्मासे एकदम ऐसा भिन्न२ करके पृथक् कर देती है कि आत्माके गुण व पर्याय आत्मामें रहते हैं तथा अनात्माके गुण पर्याय अनात्मामें रहते हैं।

भेद विज्ञनी महात्मापर कभी लक्ष्मी कृपादृष्टि करती है, अटूट धनका संग्रह करा देती है। भेद विज्ञानी इस धनको पर ही समझता है, पुण्यका विपाक समझता है। पुण्य क्षणिक है, पुण्य विपाक भी क्षणिक है। कभी पापके उदयसे धन चला जाता,

संतानकी हानि होजाती, संकटपर संकट आजावे तौ भी वह इसे पापका विपाक समझकर इससे उदासीन रहता है।

भेदविज्ञानी जगतको पर्याय दृष्टिसे देखना छोड़कर मात्र द्रव्य दृष्टिसे जगतको देखता है तब सिवाय शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल, शुद्ध आकाश, शुद्ध काल, शुद्ध धर्म व अधर्म द्रव्यके और कुछ देख नहीं पड़ता। जहां आप भी शुद्ध, पर भी शुद्ध, सब सम्बन्ध भी शुद्ध अनुभवमें आवे वहां रागद्वेष मोहका तम जरा भी नहीं दिखाई पड़ता है। इस अपूर्व सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे यह जीवात्मा कर्मोंसे भारी होनेपर भी अपनेको हलका जानता है। धीरे२ इस ज्ञानीके भीतर पर्याय दृष्टि बन्द होती जाती है और द्रव्यदृष्टिका विकास होता जाता है, तब समताभाव आजाता है, सामायिक भाव झलक जाता है, तब यह सर्व प्रपंचजालोंसे अलग हो अपने ही भीतर दृष्टि धरता है और बड़े गौरसे आप ही आपमें तन्मय होजाता है। उस समय जो अनिर्वचनीय सुख पाता है उसका वर्णन कोई कर नहीं सक्ता।

२८—साम्यवन क्रीड़ा।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच जालोंसे रहित हो जब एकांतमें बैठता है तो वह यह विचार करता है कि मैं एक शुद्ध क्षीरसमुद्रके समान शुद्ध पदार्थ हूं। जैसे समुद्र अथाह व गंभीर है, वैसे मैं अनंत गुणोंका समुदाय परम गंभीर हूं। जैसे समुद्र परम शीतल है वैसे मैं परम शांत वीतराग हूं। जैसे समुद्र परम मिष्ट है वैसे मैं परमानन्दमई हूं। मेरी सत्तामें सिवाय मेरी सत्ताके और कोई सत्ता नहीं है। वास्तवमें सत् पदार्थ अपनी मर्यादामें रहनेवाला ही होता

है। उसमें एक सामान्य अगुरुलघु नामका गुण रहता है जिससे वह पदार्थ अपने अनंत गुणमई समुदायको कभी नहीं त्यागता। उसका एक भी गुण न तो उसमेंसे छूटता है न उस गुणमें कोई ह्रास होता है, न कोई गुण बाहरसे आकर उसमें मिलता है। यही कारण है जो एक जीव अन्य जीवमें व किसी पुद्गल परमाणुमें परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी वस्तुकी मर्यादा होते हुए मैं किसको अपना कहूं व कौन मुझको अपना कहे। यह अहङ्कार ममकारका प्रपञ्च जाल है, भ्रम भाव है जो मोह, राग, द्वेषका कारण है। जहां भेद विज्ञानकी दृष्टिसे सर्व पदार्थोंका निज स्वरूप विचार किया जाता है, वहां मेरा आत्मा एक निराला स्वतंत्र अविनाशी पदार्थ झलकता है। मेरा अब यही कर्तव्य आन पड़ा है कि मैं अब सर्वसे नाता तोड़ूं और केवल अपनी ही निज सत्तामे नाता जोड़ूं।

मुझे न तो सिद्धोंसे काम है न अरहंतोंसे प्रयोजन है, न आचार्य, उपाध्याय, साधुसे कोई सरोकार है. न मुझे बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माके विकल्पोंसे कोई प्रयोजन है, न मैं जीवाजीवादि सात तत्वोंका विकल्प करता हूँ। मैं तो एकाकार आत्मीयतामें ही आत्मीयता मानकर परम निस्पृह और निर्द्वन्द होकर अपने ही शुद्ध आत्मोद्यानमें रमण करता हूँ।

इस वनमें रमण करते हुए न तो कोई हिंसामई सिंह कष्ट देते हैं, न वनचर हाथीसम प्रमाद भाव आक्रमण करते हैं, न पंचेन्द्रिय विषयमई मृगी मनको लुभाती हैं न विकराल कषायरूपी भेड़िये आकर विह्वल करते हैं। न वहां कोई संकल्प विकल्पमई भ्रमर ही भिनर करते हैं न वहां दंशमशक रूप कोई हास्यादि

नोकषाय ही पीड़ा उपजाते हैं। न वहां विषयाशक्तिरूपी शीत है न तृष्णारूपी आताप है। समताका शांत वातावरण चहुंओर निराकुलताकी मन्द सुगन्ध पवन चला रहा है। ऐसे परम सुन्दर साम्यरूपी वनमें क्रीड़ा करता हुआ मैं अपने ही रूपका आप मोही होता हुआ जिस अपूर्व अनुभवानन्दका भोग कर रहा हूं उसको मन विचार नहीं कर सक्ता, वचन उसे कह नहीं सक्ता।

२९–तीक्ष्ण आरी।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर एकांतमें विचार करता है तो उसको विदित होता है कि भेदविज्ञानके प्रतापसे ही परमात्माका दर्शन होता है। यदि कोई परब्रह्म परमेश्वरका दर्शन करना चाहे तो उसको सर्व उपायोंको छोड़कर एक यही उपाय करना होगा कि वह अपने आपको देखे। आप ही परमात्मस्वरूप है। अपने भीतर जो कुछ अपना नहीं है उस सबको बुद्धिबलसे हटा देनेपर जो कुछ बचा रहता है वही परमात्माका स्वरूप है। रागद्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म शरीरादि नोकर्म सब कुछ मेरा नहीं है। शरीराकार मंदिररूपी आकाशमें निर्मल आकाश सम चैतन्य मूर्तिका धारी परमेश्वर परमात्मा परम निर्विकार व परमानन्दमय विराजमान है। उसका अनुभव करपाना, उसकी झलक पाजाना, उसीमें तन्मयता पाजाना ही परमात्माका दर्शन कर लेना है। योगियोंका योग द्वारा अनुभवगम्य वही सिद्धात्मा है। इस अपने ही आनंदमय रूपका ध्यान ही मोक्षमार्ग है। यही मोक्ष स्वरूप भी है। कारण और कार्यकी समानता होती है।

ज्ञानी स्वानुभव दशाको प्राप्त होजाता है। उस समय यह जिस वचन अगोचर आनंदका स्वाद पाता है वह आनंद परम अतीन्द्रिय है और आप हीसे आपको प्राप्त होता है।

९-चौदह गुणस्थान।

ज्ञाता दृष्टा अनुभव-प्रेमी आत्मा निश्चय सम्यक्तके लिये व्यवहार सम्यक्तका मनन करता है। जीव तत्वको व्यवहार दृष्टिसे चौदह मार्गणारूप व चौदह गुणस्थानरूप जानकर संतोषी होता है। मोहनीय कर्म और मन वचन, काय योगोंके निमित्तसे मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्त-विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म लोभ, उपशांत मोह, क्षीण मोह, सयोग केवली, अयोग केवली, ऐसे चौदह गुणस्थान होते हैं। दर्शन मोह और अनंतानुबन्धी कषायके उदयसे प्रथम गुणस्थान होता है। तब यह जीव शरीरको व कर्मजनित अवस्थाको ही आत्मा मानता है। इन्द्रिय जनित सुखको ही सुख समझता है। संसारमें मोही बना रहता है। जब कोई प्रथम गुणस्थानसे इन पांचों प्रकृतियोंके उपशमसे चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमें जाता है तब वहां अंतर्मुहूर्त ठहरकर यदि उसी कालमें छ आवली या कमसे कम एक समय शेष रहनेपर अनंतानुबन्धी कषायका उदय आजाता है तब चौथेसे दूसरे सासादन गुणस्थानमें आजाता है, फिर वहांसे नियमसे पहलेमें गिर पड़ता है। अर्थात् मिथ्यात्वका भी उदय आजाता है। यदि मिश्र मोहनीयका उदय आजाता है तब चौथेसे तीसरे मिश्र गुणस्थानमें आजाता है। अंतर्मुहूर्त पीछे या तो पहलेमें

३०—निराकुल स्वाद।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व रागद्वेष भावोंको टालकर जो एकांतमें विचार करता है तो उसे यह झलकता है कि सर्व जगतकी प्रपञ्च-मायामें मेरा स्वरूप बिल्कुल ढक गया है। इसके ऊपर अनन्तानन्त तैजस व कार्माण वर्गणाओंके ढेर हैं। आहारकादि वर्गणाएं भी अपना अड्डा जमा रही हैं। इन कर्म प्रपंचकी रचनाके कारण ऐसे तीव्र विभावोंका मैल आत्माके ऊपर छाया हुआ है कि उसका वीत-रागभाव तो कभी अनुभवमें ही नहीं आता है। जब देखो तब २५ कषायोंका रङ्ग ही झलकता है। क्रोध, मान, माया, लोभ अपने अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान व संज्वलन भेदको लिये हुए १६ प्रकार होकर नौ नोकषायोंके साथ २५ प्रकार होजाते हैं।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, लोभ, घृणा, पुंवेद कामभाव, स्त्रीवेद कामभाव, नपुंसक वेद कामभाव; इनके अनेक प्रकारकी शक्तिके प्रकाशसे अनेक तरहके भावरूपी रङ्ग होजाते हैं। जब देखा जावे तब रातदिनमें हर समय इनही कषायके रंगोंका झलकाव रहता है। वीतरागभावका तो कहीं पता नहीं चलता है। वीतरागभाव मेरा भाव है, रागादि सब पर भाव है, ऐसा भेदविज्ञान किस तरह उत्पन्न हो यही चिन्ता करता हुआ ज्ञानी एकदमसे ऐसा जान लेता है कि जैसे जलमें लवणके मिश्रणसे उस अशुद्ध जलका पान लवणका स्वाद देता है, निर्मल जलका स्वाद नहीं देता है। परन्तु निर्मल जलका स्वाद लवणरूप नहीं है किंतु मिष्ट है। इसी तरह आत्माका मोहनीय कर्मके साथ मिश्रण होनेसे आत्माका स्वाद क्रोधादि रूप आता है, कुछ देर

भी इन विभावोंको दूरकर यदि थिरता पाई जावे तो शुद्ध वीतरागताके अंशका स्वाद आजाता है। तब ही भेदविज्ञान पक्का झलक जाता है कि मैं आत्मा हूं, मेरा स्वाद साम्यभाव है, शांतभाव है, निराकुल आनन्द है। क्रोधादि भावका स्वाद मेरा स्वाद नहीं है। क्रोधका स्वाद क्रोधमय है, मानका स्वाद मानमय है, मायाका स्वाद मायामय है, लोभका स्वाद लोभमय है। मैं इस भेदविज्ञानसे अपने ही स्वादका भेद पाकर परस्वादोंसे विरागी होजाता हूं और निश्चल रहकर एक अपनी ही शुद्ध वस्तुका निराकुल स्वाद लेता हूं। यही मेरा अनुभव मोक्षमार्ग है। इसी अनुभवमें मैं सदा तल्लीन रहूं, यही मेरी भावना है।

३१-प्रिय आत्मानुभूति।

एक ज्ञानी आत्मा जब एकांतमें बैठकर विचार करता है तो इसको पता चलता है कि मैं एक ऐसे भारी जंजालके मध्यमें प्राप्त हूं कि मुझे मेरा स्वरूप बिलकुल अनभिज्ञसा होरहा है। जब कभी जिसपर भी दृष्टिपात करता हूं उधर ही मुझे अनात्माका ही दर्शन होता है। आत्माके पवित्र मुखका दर्शन होना अतिशय कठिन होगया है। भेदविज्ञान ही एक ऐसा उपाय है कि जिससे अनेकोंके भीतर गुप्त पड़ी हुई किसी चीजको अलग करके जान लिया जाता है।

एक न्यारिया सुनारकी मनों राखके भीतरसे सुवर्णकी कणिकाओंको भेदविज्ञानके प्रतापसे ही ढूंढ़ निकालता है। एक जौहरी रत्न-पाषाणोंके भीतर बहुमूल्य रत्न बनने योग्य पाषाणको भेदविज्ञानसे ही उठा लेता है। एक धातुका व्यापारी अनेक धातुओंके भीतरसे

इच्छित सुवर्ण या रजत धातुको भेदविज्ञानसे ही छांट लेता है। एक शाकभाजी व फलका खरीददार सुन्दर व स्वादिष्ट फलोंकी छटनी एक बड़े ढेरमेंसे भेदविज्ञानके प्रतापसे ही कर लेता है। इसी तरह तत्वज्ञानी आत्माका सच्चा स्वरूप भेदविज्ञानसे पालेता है। आत्मा आत्मारूप है, पर संयोगजनित भावोंसे शून्य है। इसलिये मैं आत्मा ही हूं, इसीको चाहे परमात्मा कहा जावे। परमात्मा और आत्मा एक समान स्वभाववाले हैं ऐसा ज्ञान भेदविज्ञानसे पाकर इस तत्वज्ञानीको यह उपादेय बुद्धि होती है कि अपना ही पद सर्वथा हितकारी है, इसलिये प्रथम तो वह निजस्वरूपका प्रेमालु होता है फिर अपनी शक्तिको परमें रमन करनेसे रोकता है और वार वार निज आत्मशक्तिके मननमें उसे तल्लीन करता है। चिरकालके अभ्याससे उसकी परणति निजमें ठहरने लगती है, तब आत्मानुभूतिका झलकाव होता है। तब यह इस परमप्यारी आत्मानुभूतिका ऐसा रसिक हो जाता है कि इसे हरसमय वही प्यारी लगती है। यह फिर सिवाय आत्मदर्शनके और किसीका दर्शन ही नहीं करना चाहता है। यदि दृष्टिमें अन्य पदार्थ आता भी है तो यह झटसे दृष्टि फेर लेता है। इस तरह निजात्माका दर्शन करता हुआ जो परमानन्दपूर्ण सन्तोष पाता है उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं किया जासक्ता है।

३२–अपूर्व रसायन ।

ज्ञाताद्रष्टा आनन्दमई एक परमात्म प्रभु कर्मबंधके फलसे नाता जोड़े हुए अपने स्वरूपको भूल रहा है। आप परम शांत

रससे पूर्ण शांति समुद्र है तथापि कषाय अनलके दाहसे तापमक समुद्रवत बन रहा है। आप परमानन्दमय है तथापि मोहके भ्रममें पड़कर अपने सच्चे सुखको भूले हुए इन्द्रियजनित सुखोंमें ही सुख-पनेकी श्रद्धा कर रहा है।

आप अजर अमर अकाट्य अछेद्य है तो भी यह अज्ञानसे ऐसा ही अनुभव कर लेता है कि मैं बूढ़ा हुआ, मैं मरूंगा, मैं कट रहा हूं, मैं छिद रहा हूं, मैं रोगी हूं, मैं बाल हूं, मैं युवान हूं। आप स्पर्श, रस, गंध वर्णसे रहित परम अमूर्तिक है तो भी आप अज्ञानसे अपनेको गोरा, काला, सुन्दर, असुन्दर, बलवान, निर्बल मानकर हर्ष व शोक कर रहा है।

आप परम वीतराग परम समतामई राज्यका स्वामी है तो भी यह अपनेको क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, भयभीत, स्त्री, पुरुष, नपुंसक मान रहा है। आप एकाकार नित्य शुद्ध तथा बंध व मोक्षकी कल्पनासे शून्य है तो भी आप अपनेको अशुद्ध, पापी, कर्मसे मलीन व बंधा मान रहा है। आप परम सिद्धत्व स्वभावका धारी परम प्रभु परमात्मा है तो भी आप अपनेको नारकी, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, देव तथा मानव मान रहा है। जैसे मदिरा पीकर कोई उन्मत्त होजावे व अपने स्वरूपको व अपने घरको व अपनी स्त्रीको व अपनी ही पुत्रीको भूल जावे वैसे ही इसने मोहकी मदिरा पीकर अपने स्वरूपको भुला दिया है। है तो कुछ परन्तु कुछका कुछ मान बैठा है। इस भ्रम बुद्धिके हटानेके लिये श्री गुरुका मर्म्मोपदेश परमौषधि है।

जो इस उपदेशको श्रद्धापूर्वक मान्य करता है उसके अन्तरंगमें भेदविज्ञानकी अपूर्व शक्ति पैदा होजाती है। वह तब जान जाता है कि मुझमें और सिद्धमें कोई अन्तर नहीं है। तब फिर वह अपनेको सिद्धसम अनुभव करता है। स्वानुभवकी शक्तिके प्रतापसे वह मोक्षमार्गी होकर संसार–मार्गसे हटता हुआ मोक्षमार्गपर बढ़ा चला जाता है। स्वानुभव ही एक अमृतमई रसायन है, जिसके पीनेसे परम सुखका लाभ होता है। और आत्मा परम पौष्टिकपनेको प्राप्त होता है। अतएव मैं सब जगतके जंजालसे उदासीन होकर आज निज आत्माके ही रूपका दर्शन करता हूं, उसीके ही प्रेममें आसक्त होता हूं, उसी हीको अपना ध्येय बनाता हूं। और एकतानताके साथ उसीका ध्यान करता हुआ जो अपूर्व सुख पाता हूं उसका वर्णन किसी तरह हो नहीं सकता है।

३३–स्वात्म समाधि।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे शून्य हो एक पर्वतके ऊपर जाकर नीचेकी तरफ देखता है तो उसे बहुतसे मानवोंकी भीड़ बहुत छोटे शरीर रूप दिखती है। नीचे खड़े हुए मानव जब ऊपर निगाह डालते हैं तो वे उस खड़े हुए पुरुषको एक बहुत छोटा बालकसा देखते हैं। भ्रम बुद्धिसे हरएकको पदार्थ औरका और दीखता है। परन्तु जब कोई विवेककी दृष्टिसे विचार करता है तो वह दिखनेवाले दृश्यके ऊपर भरोसा न करके सत्य २ विचार लेता है कि नीचेके मानव भी मानवरूप ही हैं व ऊपर खड़ा हुआ मानव भी मानवरूप है।

इसी तरह जब व्यवहारकी अभूतार्थ दृष्टिसे देखा जाता है तो नारकी व पशु नीच दिखते हैं, देव ऊँच दिखते हैं। मानवोंमें दीन दुःखी मजूर नीच सेवा करनेवाले सब नीच दिखते हैं। व व्यापार आदि करनेवाले मानव ऊँच दिखते हैं। इस प्रकारकी दृष्टि राग द्वेष बढ़ाती है। देवोंसे व मानवोंसे राग पैदा करती है। नीच मानवोंसे व पशुओंसे द्वेषभाव जगा देती है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे जब व्यवहार दृष्टिको बंद करके निश्चय दृष्टिसे देखनेका अभ्यास किया जाता है तब नीच ऊँच छोटे बड़े आदिका दृश्य सब निकल जाता है और हरएक सचेतन प्राणी समान रूप ही दिखता है। उनमें कोई भी भेद भाव नहीं मालूम पड़ता है।

निश्चय दृष्टिके प्रतापसे सर्व राग द्वेष काफूरकी तरह उड़ जाता है। साम्यभावका परम शांत जलका प्रवाह ऐसा आश्चर्यकारक बहने लगता है जिससे मानवके दिलमेंसे सर्व कलुषता मिट जाती है। क्रोधादि कषायोंकी कालिमा नहीं दिखती है। न इन्द्रिय विषयोंकी वासना सताती है। परमानंदका चमत्कार छाजाता है।

मोक्षमार्ग वास्तवमें एक साम्यभाव है या राग द्वेष मोहरहित आत्माका शुद्ध परिणाम है। जो ज्ञानी इस जीवनको सुखदाई बनाना चाहते हैं वे इस मोक्षमार्गपर अवश्य चलते हैं। भेदविज्ञान ही वह परम मित्र है जो अनादिकालके भ्रमभावको दूर कर देता है। सत्य सत्य स्वरूप झलका देता है। एक तत्वज्ञानी इसीलिये भेदविज्ञानकी शरण लेता हुआ अपने आत्माको परमात्माके समान

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई देखता है। और इसी दृष्टिमें एकाग्रता प्राप्त करता है। यही स्वात्मसमाधि है। जो योगीश्वरोंको प्यारी है। जो कर्मबंधनके काटनेको तीक्ष्ण आरी है। जो मोक्ष महलमें पहुंचनेको अमल व निश्चल श्रेणी है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस श्रेणीका आरोहण करके परम सुखका लाभ प्राप्त हुए संतोषी रहते हैं।

३४-समयसार।

एक ज्ञातादृष्टा आत्मा अपने भीतर परमात्माका दर्शन जिस भेद विज्ञानके प्रतापसे करता है, उसकी महिमा अपार है। वही एक सूक्ष्म दृष्टि है जो हरएक द्रव्यको भिन्न २ देखती है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस अपूर्व दृष्टिको पाकर मलिन दृष्टिके विकारसे छूट जाते हैं।

इस भेद विज्ञानकी दृष्टिवालेको संसारका नाटक नाटकवत् प्रतीत होता है। न वहां किसी परिणमनमें हर्ष है न किसी परिणमनमें विषाद है। न वहां सांसारिक दुःख है न सुख है। न वहां परमें अहंकार है न परमें ममकार है। समतामई सरल दृष्टिका प्रकाश उस भेद विज्ञानीको परमात्माके समान निर्विकार व ज्ञातादृष्टा बनाए रखता है। क्रोध, मान, माया, लोभके भयानक आक्रमणसे यह दूर रहता है।

इस भेद विज्ञानकी प्राप्तिका उपाय छः द्रव्योंके गुण व पर्यायोंका ज्ञान है। हरएक द्रव्य अन्य द्रव्यसे बिलकुल भिन्न है, निश्चय दृष्टि हरएकको अपने ही स्वभावमें देखती है। तब जितने पुद्गल हैं सब परमाणु रूप दिखते हैं। औदारिक, वैक्रियिक,

आहारक, तैजस, कार्माण शरीरोंके भेद, नाना प्रकार भूमियोंके ढेर, पर्वत, वन, आदि, नाना प्रकार सरोवर, नदी समुद्र आदि, नाना प्रकार अग्निके प्रकार, नाना प्रकार वायुके भेद, नाना प्रकार साधारण तथा प्रत्येक वनस्पतिके दृश्य, नाना प्रकार त्रसादिके शरीर, सूर्य व चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह व तारोंके विमान, मेघ आदि इन सब पर्यायोंका, इन सब दृश्योंका पता ही नहीं लगता है। धन्य है यह निश्चयदृष्टि जिसमें सर्व ही पुद्गल परमाणुरूप अपने स्वभावमें दीखते हैं। राग-द्वेषके कारण सुन्दर व असुन्दर स्कंधोंका कहीं पता नहीं चलता है। इस निश्चय दृष्टिसे सर्व असंख्यात कालाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, तथा आकाश अपने स्वभावमें मगन ही झलकते हैं। जितने जीव हैं भले ही व्यवहारमें उनको स्थावर व त्रस देखा जावे, संसारी और सिद्ध माना जावे, भव्य तथा अभव्यमें गिना जावे परन्तु निश्चयसे वे सब शुद्ध एकाकार परमात्मा रूप ही दिखते हैं। यह ज्ञानी इसी दृष्टिसे देखकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता रूप परम साम्यभाव रूपी स्वसमयमें या समयसारमें या स्वानुभवमें या ज्ञानचेतनामें तन्मय होजाता है और जिस अद्‌भुत आनन्दामृतका पान करता है उसका कथन बचनोंसे बाहर है।

३५—नैष्कर्म्यभाव।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पको त्यागकर जब देखने लगता है तब उसको सिवाय अपने शुद्ध स्वरूपके और कुछ नजर नहीं आता है। उसके भीतर भेद विज्ञानकी दृष्टि जागृत होजाती

है। दृष्टिके प्रभावसे आत्म और परका भिन्न २ स्वरूप जैसाका तैसा दिख जाता है।

भेद विज्ञानका गुण गान करना वचनसे वाहर है। सम्यक् दृष्टि मानवके भीतर यह दृष्टि सदा जागृत रहती है। इसीके प्रतापसे पर्याय दृष्टिका मोह मिट जाता है, द्रव्यार्थिक दृष्टिका वैराग्यभाव जागृत होजाता है।

इस भेद विज्ञानकी दृष्टिके उत्पन्न करनेका उपाय तत्वोंका सूक्ष्मदृष्टिसे अभ्यास है। अभ्यासके साथ २ श्रद्धा व विवेककी आवश्यक्ता है। श्रद्धा व विवेक वार वार मननकेद्वारा उत्पन्न होता है। जैसे कृषकका बालक धान्यमें चावल और तुषको भिन्न २ देखते हुए दोनोंके भेद विज्ञानको पालेता है। जौंहरीका शिष्य नाना प्रकारके रत्नोंको देखते हुए दीर्घकालके अभ्याससे उन सबके भिन्न २ गुण दोषका ज्ञाता होजाता है। भेद विज्ञानकी दृढ़ता ही जगतके दृश्यके कारण मूल पदार्थोंको भिन्न २ झलकाती रहती है। राग, द्वेष, मोह संसारके बीज हैं। इनकी उत्पत्ति मोहनीय कर्मके उदयसे होती है। मोहनीय कर्म कार्माण पौद्गलिक वर्गणाओंका परिणमन है। यही ज्ञान आत्माको आत्मारूप दिखलाता है। आत्मा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चारित्र सम्यक्त आदि गुणोंकी अपेक्षा पुद्गलसे बिलकुल भिन्न है। यही ज्ञान, यही श्रद्धान, यही अनुभव मोक्षमार्ग है। इसहीको आत्मध्यान कहते हैं। संत पुरुष निरंतर आत्माध्यानकी धूनी रमाते हैं। और आत्माको निर्मल करते हुए चले जाते हैं। आत्माकी निर्मलता हरएक विज्ञ प्राणीका ध्येय रहना

चाहिये जिससे यह किसी समय अपने शुद्ध स्वभावमें सदाके लिये थिर होजावे, परमात्मपदका इसको लाभ होजावे।

भेद विज्ञानके प्रतापसे ही मैं सदा निजानंदका विलास करता हू। मुझे इन्द्रियजनित सुखके विकार विकारी नहीं बनाते हैं। ज्ञानीको न रोगसे प्रेम है न रोगके इलाजसे प्रेम है। वह अपने निरोगपनेकी सदा भावना भाता है। यही भावना अनंतकालके लिये निरोग कर देती है। मैं इसीलिये सर्व प्रपंच जालोंसे मुंह मोड़कर एक अपने ही अद्वितीय ज्ञान स्वरूपी आत्माके उपवनमें ही रमन करता हूं जहां पुण्य भावके आक्रमण नहीं होते हैं, और यह आत्मा नैष्कर्म्यभावमें सदा जागृत रहता है।

३६–सिद्धोंका क्रीड़ावन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे निवृत्त होकर जब अंतरंगमें विचारता है तब उसे पता चलता है कि यह जगत जड़ चेतनका समुदाय है। भेद विज्ञान जड़को जड़ व चेतनको चेतन देखता है। यह एक उपवनमें प्रवेश करता है। वहांपर नीम, पीपल, बरगत, सहतूत, बेल, कैंथा, अमरूद, अनार, सेव, नासपाती, अँगूर, खजूर, कमरख, केला, संतरा, गुलाब, बेला, चमेली, जुही आदि अनेक वृक्षोंकी शोभा देखकर रंजायमान होता है। कभी सरोवरके निकट मन्द सुगंध पवनका विलास करता है। कभी नाना प्रकारके रमणीक बंगलोंकी पंक्तियोंको देखता है जो उस बागमें बनी हुई हैं। बागके माग व बागकी क्यारियां आंखोंको रमणीक भास रही हैं। इस सब रचनाके उपादान अर्थात् मूल कारणपर

जब दृष्टिपात करता है तब विदित होता है कि इन सब सचेतन वृक्षोंके भीतर जाननेवाला आत्मा अलग है और शरीरादिकी रचना करनेवाले पुद्गल अलग हैं। जीवोंका भी जब स्वरूप विचारता है तब उनके एकेन्द्रियादि नामकर्मका उदय है। रागद्वेष, मोहकी कालिमा है। यह सब भी पौद्गलिक कर्मका विकार है। इन विकारोंसे रहित जब देखा जाता है तब यही दिखता है कि सर्व ही जीव समान प्रदेशवाले, निर्विकार, शुद्ध व परमशांतिमय हैं।

जब अपने आत्माकी तरफ देखता है तब उसे भी अन्य आत्माओंके समान पाता है। इसी तरह जगतके अनेकानेक संयोगके भीतर आत्मा आत्मारूप पुद्गल पुद्गलरूप दीखता है। भेद-विज्ञानकी दृष्टिमें वृक्ष, पशु, मनुष्य, देव, नारकी सब ही जीव एक समान दीखते हैं। अनात्मासे दृष्टि फेरते हुए मात्र आत्मद्रव्यको अवलोकन करते हुए सर्व ही आत्माओंकी सदृशता जब दिखाई पड़ती है तब सर्व ही समुदाय एक ज्ञानसागररूप बन जाता है।

यह ज्ञानी इस ज्ञानसागरमें रमण करता हुआ परम साम्य-भावरूपी जलसे अपने मलको धोता है और बारबार इसमें स्नान करता हुआ एक अद्भुत परमानन्दका स्वाद पाता है।

स्वस्वरूपका स्वाद वेदन ही मोक्षपथ है।

सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकताका झलकाव है।

अग्नि है जो कर्मोंको दग्ध करती है।

है। यही सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान है

शुक्लध्यान है।

व अप्रमत्तादि गुणस्थानधारी साधुका स्वरूप है। यही परम स्पष्ट सयोग और अयोगकेवलीकी अवस्था है। यही सिद्ध भगवानका क्रीड़ा वन है। मैं इसी आत्माके मनोहर वनमें सैर करता हुआ जिस अपूर्व संतोष व आनन्दको पाता हूं उसका वर्णन हो नहीं सक्ता।

३७-शांतकुटी विश्राम।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सांसारिक संकल्प विकल्पोंसे दूर एक अपने कल्याणके मार्गमें चलनेके लिये प्रस्तुत हुआ है। वह भेद विज्ञानकी शरण लेता है और इसके प्रतापसे सर्व मोहका वमन कर डालता है। न कोई किसीका मित्र है न कोई किसीका शत्रु है, न कोई किसीका उपकारी है न कोई किसीका अपकारी है, न कोई स्वामी है न सेवक है, न कोई आचार्य हैं न कोई शिष्य है, न कोई पूज्य है न कोई पूजक है, न कोई सज्जन है न कोई दुर्जन है, न कोई क्रोधी है न कोई क्षमावान है, न कोई मानी है न कोई विनयवान है, न कोई मायावी है न कोई सरलतासे व्यवहारी है, न कोई लोभी है न कोई संतोषी है, न कोई पुरुष वेदी है न कोई स्त्री वेदी है, न कोई नपुंसक वेदी है, न कोई हास्यकारक है, न कोई शोकी है, न कोई रतिवान है न कोई अरतिवान है, न कोई भगवान है न कोई घृणारूप है, न कोई मिथ्यादृष्टि है न कोई सम्यग्दृष्टि है, न कोई सासादन भावधारी है न कोई मिश्रभाव प्रधानी है, न कोई अविरतिवान् है न कोई देशव्रती है, न कोई अप्रमत्त है, न कोई अपूर्वकरण भावधारी है न अनिवृत्तिकरण भावोंमें आरूढ़ है, न कोई सूक्ष्मसांपरायी है न कोई उपशांत मोही है, न कोई क्षीण मोही है, न कोई

सयोग केवली है न कोई अयोग केवली है, न कोई देव है न कोई नारकी है, न कोई तिर्यंच है न कोई मनुष्य है, न कोई एकेंद्रिय है न कोई द्वेन्द्रिय है, न तेन्द्रिय है न चतुरिंद्रिय है, न पंचेन्द्रिय असैनी है न पंचेन्द्रिय सैनी है, न कोई पृथ्वीकायिक है न कोई जलकायिक है, न तेजकायिक है न वायुकायिक है, न कोई वनस्पतिकायिक साधारण है, न कोई प्रत्येक है, न कोई त्रसकायिक है, न कोई मनधारी है, न वचनधारी है, न कायधारी है। सर्व ही जगतके चेतनात्मा अपने २ स्वभावमें सदासे विराजमान हैं। उनके साथ न ज्ञानावरणादि आठ कर्मोका संयोग है न कोई विभावोंका विकार है, न कोई औदारिकादि नौ कर्मोका सम्बंध है। सर्व ही एकाकार असंख्यात प्रदेशी अपने परमशुद्ध गुणोंमें व्याप्त परमात्मा रूप निज ज्ञानानंद सागरमें निमग्न परम कृतकृत्य दिखलाई पड रहे हैं। अब मैं अन्य सर्व विचार छोड़ एक अपनी ही त्रिगुप्तमयी परम-शांत रससे पूर्ण स्वानुभूतिरूपी कुटीमें विश्राम करता हूं और परम योगमें तन्मय हो परमानन्दमें निमग्न होकर विकल्पातीत होजाता हूं।

३८–मैं एकाकी।

एक भेदविज्ञानका प्रेमी आत्मा अपने भेदविज्ञानरूपी शस्त्रके द्वारा परको अलग कर आपसे आपमें अपनेमेंसे अपने लिये आपको ध्याता है। कभी भेद षट्कारक कभी अभेद षट्कारकका विचार कर लेता है। कभी पुद्गलका विचार करता है कि ये अणु व नाना स्कंध जगत व्यापी हैं। पुद्गलोंसे ही कार्माण शरीर बनता है जो ज्ञानावरणादि आठ कर्ममय हैं। पुद्गलोंसे ही तैजस शरीर बनता है

जो बिजलीकी शक्ति रखता है। पुद्गलोंसे ही मनुष्य व तिर्यंचोंका औदारिक शरीर व देव व नारकियोंका वैक्रियिक शरीर बनता है व ऋद्धिधारी मुनियोंके आहारक शरीर बनता है। पुद्गलोंसे ही भाषा बनती है, पुद्गलोंसे ही आठ पांखड़ीका कमलाकार द्रव्य मन बनता है। पुद्गल मूर्तिक है, मैं आत्मा अमूर्तिक हूं। पुद्गल ज्ञान रहित है, मैं ज्ञान सहित हूं। पुद्गल पूरण गलन स्वभाव है, मैं अखण्ड हूं। पुद्गल जीवके साथ मिलकर विकारी भावोंका कारण है। मैं स्वयं निर्विकारी हूं, न किसीमें विकार पैदा करनेका स्वभाव रखता हूं। यद्यपि आकाशके आधारसे मैं रहता हूं तथापि आकाश जड़ अचेतन है। मैं सदा चेतन हूं। मेरी सत्ता सर्व आत्माओंसे निराली है, यद्यपि मेरा स्वभाव सर्व आत्माओंके बराबर है। जब मूल द्रव्य, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश भी मेरे नहीं हैं तब स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान, मंदिर, वस्त्र, आभूषण, रुपया, पैसा मेरा कैसे होसक्ता है? मैं सबसे निराला हूं। सब मुझसे निराले हैं। मैं एकाकी हूं। मेरा कोई शरण नहीं है। मैं केवल हूं। मुझे किसीकी सहायकी जरूरत नहीं है। मैं परम सुखी स्वभावसे ही हूं। मुझे सुख भोगनेके लिये पांच इन्द्रियोंके विषयोंके भोगनेकी जरूरत नहीं है।

इसतरह अपने स्वभावको सम्हालते हुए मैं परमात्मासे किसी भी तरह कम नहीं हूं अतएव मैं सर्व संकल्प विकल्प त्याग करके मन वचन कायकी गुप्तिसे अपने ही अंतरंग गुणोंमें प्रवेश करके कभी आत्मा व उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य, सम्यक्त आदि गुणोंकी भावना भाता हूं। कभी भावनाओंको भी त्याग करके आपमें

आपी तन्मय होजाता हूं। तब स्वरूप समाधिको प्राप्त कर जो अकथ-नीय आनन्द पाता हूं, उसका कथन किसी तरह नहीं होसक्ता। वह तो आप आपके ही गोचर है।

३९–ज्ञानमय गंगा।

एक ज्ञानी महात्मा अपने पास मिश्रित जगतको देखकर जब भेदविज्ञानकी दृष्टि फैलाता है तब जितने द्रव्योंसे यह जगत बना है वे सब द्रव्य भिन्न २ ही दिखलाई पड़ते हैं। कोईकी सत्ता किसीसे मिलती नहीं है। सर्व ही द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पृथक् पृथक् हैं। एकमें दूसरेका नास्तित्व है, अपनेमें अपना ही अस्तित्व है। हरएक द्रव्य अस्तित्व नास्ति स्वरूप या भावाभावरूप है। एक जीवका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव दूसरे जीवके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे भिन्न है। एक पुद्गलके परमाणुका द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव अन्य परमाणुके द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे भिन्न है।

भेदविज्ञानके प्रतापसे एकत्व भावनाको भाता है, तब अपनेको एक अकेला ज्ञानावरणादि कर्म रहित, रागादि भाव कर्म रहित व शरीरादि नोकर्म रहित देखता है, जहां व्यवहार नयसे या भेद विवक्षासे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त आदिके भेद हैं, परन्तु निश्चयनयसे या अभेद विवक्षासे जहां भेद नहीं है वहां यही विचार है कि मैं अखंड चित्पिंड ज्ञान काण्ड स्वानुभव गम्य ही हूं।

इसतरह अपने एकत्वको पाकर यही ज्ञानी ज्ञानस्वरूपी गंगा नदीमें वारवार स्नान करता हुआ अपने आप जो आनन्दामृतका स्वाद पाता है उसका वर्णन किसीतरह हो नहीं सकता।

४०—आत्मीक प्रकाश ।

एक ज्ञानी आत्मा वर्षाको पड़ते हुए विचारता है तो उसको विदित होता है कि वही पानी जो यहां था भाफ बनकर उड़ गया। उसके मेघ बन गए और मेघोंका फिर यह वर्षाका जल होगया। इस दृश्यको विचारते हुए वह जगतके पदार्थोंके स्वभावपर चला जाता है और देखता है कि इन द्रव्योंमें द्रवण शक्ति या परिणमन शक्ति है। उसीके प्रभावसे ये सब द्रव्य समय समय पर्याय पलटा करते हैं। नएसे पुराने होते रहते हैं तौ भी मूल द्रव्योंका न जन्म होता है न नाश होता है। पुद्गल और जीवोंके मेलने नाना प्रकार वृक्षोंको, पत्तोंको, फूलोंको व फलोंको बना डाला है। नाना प्रकारके कीड़े मकोड़, चींटी चींटे, पतंगे, मच्छिका, भ्रमर आदि इन दो द्रव्योंके मिश्रणके ही दर्शाव हैं। कुत्ते, बिल्ली, बंदर, मृग, गाय, भैंस, घोड़ा, ऊट, हाथी, बकरा, भेड, सिंह, भेड़िया, तोता, मैना, मोर, कबूतर, तीतर, बटेर, काक, मुर्ग, हंस, मच्छ, मगर, कच्छप आदि यह सर्व पशु समुदाय दो द्रव्योंका ही खेल है। नाना प्रकार-के मानव भारतीय, जापानी, चीनी, भूतानी, तिब्बती, मंगोल, पठान, तुर्क, ग्रीक, जर्मन, फ्रांस, इंग्रेज, रूस, अमेरिकन, आफ्रिकन, आष्ट्रे-लियन, जगली, ग्रामीण नागरिक ये सर्व मानव समाज इन्हीं दो द्रव्योंका तमाशा है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, व कल्पवासी देव व सात नरकोंके नारकी ये सब इन्हींसे बने हैं। सारे जगतके चेतन प्राणी इन्हींकी करामात है। पर्वत, नदी, जंगलादिमें व नगरादिमें जितने अचेतन दृश्य पदार्थ हैं उनका रचयिता पुद्गल है।

जीवोंकी दशा यह है कि कर्म पुद्गलोंके व तैजस पुद्गलोंके असरसे ही भवभवमें जाते हैं। नानाप्रकार शरीर पाते हैं। नानाप्रकार कलुषित भावोंमें वर्तते हैं। यदि पुद्गलका सम्बन्ध निकाल लिया जावे तो इनका आवागमन बन्द हो, इनका शरीर धारण बन्द हो, इनके नाना प्रकारके अशुद्ध भावोंका संचार बन्द हों। तब तो ये मात्र अपने स्वभावमें ही परमात्मवत् रमण करें।

भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखते हुए इस ज्ञानीको ऐसा भासता है कि सर्व जीव एक समान शुद्ध हैं। अब यह अपने कल्याणके हेतु व समताभाव जगानेके हेतु सर्व अजीवोंसे नाता छोड़ता है और सर्व जीवोंको एक समान शुद्ध देखता है। बस, राग द्वेषको मिटाकर समताभावमें पहुंच जाता है। जो दृष्टि विश्वभरमें व्यापक थी उसको संकोच करके अपने भीतर लाता है और अपनेसे ही आपको ही देखने लग जाता है, तब ज्योंही दृष्टि स्वसन्मुख होती है त्योंही सर्व संकल्प विकल्प मिटते हैं. सर्व विचार बन्द होते हैं और यकायक एक निर्विकल्प समाधिमई आत्मानुभवकी ज्योति जग जाती है। जिस प्रकाशमें यह मग्न होकर जो आत्मिक आनन्दका लाभ करता है वह वचन अगोचर है।

४१–सुखशांतिकी छाया।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व और विचारोंको बन्द करके एकांतमें बैठकर भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखता है तब उसको यह दिखलाई पड़ता है कि यह जगत एक नाटकशाला है। इसमें जीव और पुद्गल परस्पर संयोग सम्बन्ध रखते हुए नानाप्रकार भेष बनाकर अपना मिश्रित कर्तव्य दिखा रहे हैं। जैसे मदिराके संयोगके अस-

रसे बुद्धिमान भी अपने घरको भूल जाता है, कुछका कुछ मानने लगता है, इसीतरह मोह कर्मरूपी पुद्गलके असरसे जगतके प्राणी अपने निज असली स्वरूपको ही बिलकुल भूल गए हैं और जिस भेषमें व जिस पर्यायमें वे खेल करते हैं उसी पर्यायको या भेषको ही अपना रूप मानके न करने योग्य कार्य कररहे हैं।

आप हैं तो परभावके अकर्ता व पर भावके अभोक्ता परन्तु अपनेको कर्ता व भोक्ता मानके आकुल व्याकुल होरहे हैं। जो वस्तु छूटनेवाली है उससे ऐसा गाढ़ प्रेम कर रहे हैं मानो कभी छूटेगी ही नहीं। जगतके प्राणी शरीरमें, धनमें, कुटुम्ब परिवारमें, मानमें ऐसे लुब्ध हैं कि रात दिन इन हीके लिये उद्यम करते हैं। कभी भूलकर भी यह विचार नहीं करते हैं कि हम असलमें कौन हैं। भेदविज्ञानकी दृष्टिसे विचारते हुये यह साफ साफ झलक जाता है कि जगतके प्राणियोंमें आत्मा तो एक बिलकुल जुदा पदार्थ है। इनके साथ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर तथा भाषा व मन जो सब पुद्गलके बने हुए हैं, रहकर नाना प्रकार खेल खिलाते हैं। आत्माको जब निराला देखा जावे तो वह परमात्मावत् ज्ञाताद्रष्टा निर्विकार आनंदमई परमवीतराग परमानंदमय एक अविनाशी अखंड पदार्थ है।

भेदविज्ञानी अपनेको ऐसा निश्चय करके स्वात्मानंद पानेके लिये अन्य सर्व विकल्पोंसे दूर रहकर अपने आत्माके परम मनोहर गुणरूपी उपवनमें जाता है। गुणोंकी सैर करते करते सुखशांतिकी छायामें जब निद्रा लेता है तब जो आनंद भोगता है वह वचनातीत है।

४२-सच्ची सामायिक।

परम वीर आत्मा सर्व संकटोंसे हटकर निःकंटक सारभूत निज आत्मारूपी भूमिमें चलनेके लिये उत्साहित होता हुआ किसी ऐसे परम मित्रकी शरण लेता है जिसके प्रतापसे आत्माका यथार्थ दर्शन होता रहे। वह परम मित्र है-**भेदविज्ञान।**

भेदविज्ञान जल और तेलकी तरह आत्माको रागद्वेषादि भावोंसे, ज्ञानावरणादि कर्मोंसे व शरीरोंसे जुदा दर्शाता है। भेद-विज्ञान जगतभरकी आत्माओंको एकरूप स्वभावमें परमात्माके समान दिखाता है। यह भेदविज्ञानका ही प्रताप है जिससे समताभाव जग जाता है और राग द्वेष मोहका झंडा उखड़ जाता है। समता-भाव ही सामायिक शिक्षाव्रत श्रावकोंका है। समताभाव ही श्राव-कोंकी तीसरी प्रतिमाका व्रतभाव है। समताभाव ही प्रमत्तविरत व अप्रमत विरत मुनिकी सामायिक है। समताभाव ही अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानोंका शुद्धोपयोग रूप सामायिक चारित्र और शुक्लध्यान है।

समताभाव ही उपशांत मोह व क्षीण मोहका वीतराग यथा-ख्यात चारित्र और शुक्लध्यान है। समताभाव ही सयोग केवली और अयोग केवलीका परम आभूषण है। समताभाव ही सिद्धोंका आसन है। भेदविज्ञानके उपकारसे ही समताभावका लाभ होता है।

पर्याय दृष्टिमें अनंत भेद हैं, अनंतरूप हैं, अनंत भाव हैं। जहींपर कषायका संचार है तब कुछ रूप व कुछ भाव शुभ दिखते हैं। कुछ रूप व कुछ भाव अशुभ दिखते हैं। द्रव्य दृष्टिमें न भेद

हैं न रूप हैं न भाव हैं । वहां तो अभेद अखण्ड एक ज्ञायक भाव है। ज्ञानी सर्व प्रपंचजालोंसे विरक्त होकर इस एक अखण्ड ज्ञायक भावमें तन्मय होता हुआ, जिस परमानन्दका स्वाद लेता है वह वचन अगोचर केवल अनुभवगम्य है। तथापि सिद्ध सुखका यही विलास है। यही दोयजका चन्द्रमा है जो पूर्णमासीका चन्द्र हो जायगा।

४३–द्रव्य दृष्टि उपादेय ।

एक ज्ञानी विद्वान एकांतमें बैठकर नयोंके विचारमें तल्लीन है। जब वह पर्यायार्थिक नयका विचार करता है तब उसको यह जगत नाना रूप भासता है। अनेक वर्णके व अनेक तरहके मानव भिन्न भिन्न अनेक कार्य करते दिखलाई पड़ते हैं। कोई सिपाही है, कोई कृषक है, कोई लेखक है, कोई व्यापारी है, कोई सुनार है, कोई लुहार है, कोई बढई है, कोई थवई है, कोई दरजी है, कोई वर्तन बनानेवाला है, कोई कपड़े बुननेवाला है, कोई धनिक है कोई गरीब है, कोई निरोगी है, कोई रोगी है, कोई बलवान है, कोई निर्बल है, कोई बालक है कोई युवान है, कोई वृद्ध है कोई प्रतिष्ठावान है, कोई दाता है कोई मंगता है, कोई स्वरूपवान है कोई कुरूपवान है, कोई स्त्री है कोई पुरुष है, कोई मर रहा है कोई जन्मा है। इसी तरह पशु समाजमें कोई कुत्ता है कोई बिल्ली है, कोई घोड़ा है कोई गधा है, कोई हाथी है कोई ऊंट है, कोई बैल है कोई गाय है, कोई भैंस है, कोई बकरा है, कोई बकरी है, कोई शूकर है, कोई मृग है, कोई वाघ है, कोई सिंह है, कोई काक है, कोई कबूतर है, कोई मोर है कोई तोता है, कोई मैना है, कोई

नाग है, कोई गिलहरी है, कोई चूहा है, कोई मक्खी है, कोई भ्रमर है, कोई पिपीलिका है, कोई लट है। एकेन्द्रिय समाजमें कोई कठोर पृथ्वी है, कोई नम्र है, कोई वावड़ीका पानी है कोई कूपका व नदीका पानी है, कोई ठंढी वायु है, कोई अग्निरूप है. कोई वनस्पतिकायमें सेव है, अंगूर है, आम है, अनार है, नासपाती है, अमरूद है, केला है, नारंगी है, सीताफल है, खरबुजा है, ककड़ी है, खीरा है, मटर हैं. चने हैं। आदि २।

जीवोंके भीतर अनेक भेख व बेगिनती पर्यायें सब दीख पडती हैं। जिनसे प्रयोजन होता है उनसे राग करता है, जिनसे प्रयोजन नहीं है उनसे द्वेष करता है। पर्यायोंके देखनेसे राग द्वेष मोह होता है। कर्म बंध ही संसारका बीज है। यह ज्ञानी अब इस पर्यायदृष्टिको बंद करके द्रव्यार्थिक नयसे देखता है—शुद्ध निश्चयनयसे देखता है तब भेद विज्ञानरूपी मित्र सामने खडा होजाता है। उसके संकेत मात्रसे सर्व ही लोककी आत्माएँ एकाकार शुद्ध सदृश परमात्मा रूप दिखती हैं। वस यकायक राग द्वेष मिट जाता है। यह ज्ञानी इसी समताभावमें तन्मय होता हुआ जो आनंद पाता है वह वचन अगोचर है।

४४–शुद्ध कुन्दन।

आज यह ज्ञानी आत्मा अपने निज धर्मकी सम्हाल करता है तो वहां क्रोधके असंख्यात लोकप्रमाण भावोंके भेदोंको पाता है। क्रोधकी कालिमासे मलीन परिणामोंका जब यह अनुभव करता है तब इसे क्रोधका ही मलीन स्वाद आता है। आत्माका निज

स्वाद नहीं आता । जैसे लवणसहित पानी पीनेसे खटाईका स्वाद, शक्कर मिला पानी पीनेसे शक्करका स्वाद, कीच मिला पानी पीनेसे कीचका स्वाद आता है वैसे क्रोधादिके साथ मिश्रित ज्ञानोपयोगका स्वाद क्रोधरूप ही आता है । अब यह शुद्ध आत्मीक स्वाद पानेका प्रेमी होकर भेदविज्ञानरूपी मंत्रके प्रभावसे सर्व क्रोधकी कालिमाको बुद्धिसे दूर फेंक देता है और केवल एक आत्माका ही स्वाद लेता है । इसीतरह मानकी कालिमाको, मायाकी अशुचिताको, लोभके मैलको भीतरसे दूर करता है । तब क्रोध, मान, माया, लोभ रहित एक वीतराग भावके साथ मिश्रित आत्माका स्वाद लेता है । यह स्वाद बड़ा ही शांतिप्रद है । एक दफे जिसको निज शुद्धात्माका वीतराग विज्ञानमय आनन्दका स्वाद आजाता है वह उसी क्षणसे मिथ्यादृष्टिसे सम्यक्दृष्टि होजाता है । वह विषय कषायके सुखका त्यागी व सहज आत्मीक सुखका प्रेमी होजाता है । अब इसका सर्व जीवन आत्मिक सुख लाभके ध्येयपर खड़ा होजाता है । इन्द्रिय सुखका ध्येय नहीं रहता है ।

अतीन्द्रिय आनन्द मेरे ही पास है, अपनेसे ही अपनेको मिल सक्ता है, यह प्रतीति जागृत होजाती है । प्रतीतिके प्रतापसे सम्यग्ज्ञानके प्रकाशमें रहता हुआ यह सम्यक्ती जीव वस्तुको वस्तुरूपसे यथार्थ जानता देखता है । वह जब कभी अपने आत्माकी तरफ दृष्टि डालता है तो उसे परमात्मारूप ही देखता है । उसे कभी भी अपना आत्मा रागी, द्वेषी, मोही, लोभी, कामी, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, बाल, वृद्ध, युवा, रोगी, निरोगी आदि रूप नहीं दीखता

है किन्तु सदा ही स्फटिकके समान व शुद्ध कुन्दनके समान परम शुद्ध वीतराग विज्ञानमय ही दिखता है। इसी आत्माका स्वाद लेते लेते एक अद्भुत परमानन्द जागृत होता है जिसके गुणका वर्णन हो नहीं सक्ता।

४९-सत्यका सुगम पंथ।

आज एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंसे रहित हो भेदविज्ञान रूपी दृष्टिसे अपने भीतर देखता है तो वहां कभी क्षमा, कभी क्रोध, कभी मार्दव, कभी मान, कभी सरलता, कभी माया, कभी संतोष, कभी लोभ, कभी सत्य, कभी असत्य, कभी संयम, कभी असंयम, कभी तप, कभी इच्छा, कभी त्याग, कभी ग्रहण, कभी निर्ममता, कभी ममता कभी ब्रह्मचर्य, कभी अब्रह्म इन विरोधी स्वभावोंको देखकर आश्चर्यमें पड़ जाता है। फिर ज्यों ही वस्तुके स्वरूपका विचार करता है त्यों ही पता चलता है कि मेरे भीतर दो भिन्न२ द्रव्य हैं, एक आत्मा दूसरा पुद्गल। दो द्रव्योंके विना ऐसा विरोधभाव नहीं माल्रुम होसक्ता है। आत्माके गुण क्षमा आदि हैं, कर्म पुद्गलोंके विकार क्रोधादि हैं। जैसे कहीं पानीमें इतना कम रंग मिला हो कि उस पानीके बहते हुए कहीं तो निर्मलता दीखे, कहींपर रंग दीखे तो बुद्धिमानको तुरत यह विचार होजाता है कि निर्मलता पानीकी है, रंग पानीका नहीं है, किंतु किसी रंगीन मिट्टीका है। भेदविज्ञानके प्रतापसे यह जान लेता है कि मेरे आत्माका स्वभाव परमनिर्मल, ज्ञानमय, दर्शनमय, चारित्रमय, आनन्दमय, वीर्यमय, निर्विकार, अमूर्तीक, अविनाशी है। इस स्वभावके सिवाय जितना कुछ भी शुभ

भाव है या अशुभ-भाव है व पाप पुण्यका सम्बन्ध है सो सब पुद्गलका है, आत्माका नहीं।

इस भेदविज्ञानके प्रतापसे जो श्रद्धान व ज्ञानपूर्वक आत्माके स्वभावमें तल्लीन होता है वही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई मोक्षका मार्ग होजाता है।

इसी मार्गको स्वात्मानुभव कहते हैं स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। सत्यका सुगम पथ है। भेदविज्ञानी सर्व ज्ञानावरणादि कर्मसे, रागादि भाव कर्मसे, शरीरादि नोकर्मसे नाता तोड़—संसारके प्रपंचसे मुंहमोड़—अध्यात्मीक भावसे नाता जोड़, स्वात्माराममें प्रवेश करता है तो वहां सर्व प्रकारसे पूर्ण आत्माका दर्शन करके परम तृप्त होजाता है। यह स्वानुभव जयवंत हो जो हमारे जीवनका सार है।

४६–ज्ञानी महात्मा।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित होकर भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखता हुआ जगतभरमें उत्तम क्षमा व रत्नत्रय धर्मका साम्राज्य देखता है और देख देखकर परम साम्य भावमें तन्मय होजाता है। इस विश्वलोकमें कोई स्थान या प्रदेश ऐसा नहीं है जहांपर जीव द्रव्य न हो। सूक्ष्म एकेंद्रिय स्थावर तो सर्वत्र व्यापक है, बादर आधारमें है तब भी बहुत स्थानोंपर है। एक भी लोकाकाशका प्रदेश जीवके आकारसे व्याप्त न हो ऐसा नहीं है। इन सर्व जीवोंके साथ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण इन पांच प्रकार शरीरोंका सम्बन्ध है। कार्माण शरीर आठ कर्मरूप है। उनमें बंध प्राप्त

कार्माण वर्गणाओंमें ऐसी कुछ शक्ति है जिससे वे जीवके भावोंमें कलुशता पैदा कर देते हैं तब जीव पापभाव या पुण्यभावमें, मंद कषायमें, तीव्र कषायमें वर्तते हैं।

कभी हिंसा करते, कभी दया पालते, कभी असत्य कहते, कभी सत्य बोलते, कभी चोरी करते, कभी ईमानदारीसे व्यवहार करते, कभी व्यभिचार करते, कभी शीलव्रतको पालते, कभी अति-तृष्णा करते, कभी संतोष धारते, कभी परकी हानि करते, कभी परका उपकार करते, कभी आरम्भ करते, कभी पूजापाठ करते, कभी कुकथाको पढ़ते, कभी सुकथाको पढ़ते, कभी श्रृंगार नाटक देखते, कभी धर्ममन्दिर तीर्थस्थानोंको देखते, कभी विषय सेवनार्थ गमन करते, कभी साधु व तीर्थ दर्शनार्थ गमन करते, इस तरह विचित्र अशुभ व शुभ कार्योंको मन, वचन, कायसे करते दिखलाई पड़ते हैं। सच पूछो तो यह मोहनीय कर्मका प्रभाव है। उसके मदमें उन्मत्त हुए ये सब संसारी जीव शुभ व अशुभ चेष्टाएं कर रहे हैं। भेदविज्ञानकी दृष्टिसे जब ज्ञानी जीव इन सब जीवोंको मोह रहित, कर्म रहित, शरीर रहित देखता है तो वे सर्व ही जीव शुद्ध निर्विकार आनंदमय ज्ञाताद्रष्टा दिखलाई पड़ते हैं। सर्व ही आत्माओंमें उत्तम क्षमा वास कर रही है। उत्तम मार्दव कल्लोल कर रहा है। उत्तम आर्जवका वास है। उत्तम सत्यका झलकाव है। उत्तम शौचकी पवित्रता है, उत्तम संयमकी छटा है। उत्तम तपकी तृप्ति है। उत्तम त्यागकी उदारता है। उत्तम आकिंचन्य धर्मकी वीतरागता है। उत्तम ब्रह्मचर्यकी शीतलता है।

सर्व ही आत्माओंमें सम्यग्दर्शनका तेज है। सम्यग्ज्ञानका प्रकाश है। सम्यक्चारित्रकी अमृतधारा है। सर्व ही चंद्रमावत् परम शांत आत्मानन्द सुधाको वर्षा रहे हैं। जगतव्यापी आत्माओंमें एकसा गुण, एकसा स्वभाव, एकसा धर्म देखकर यह ज्ञानी जीव रागद्वेषकी कालिमाके प्रकाशके कारणको न पाकर जैसे आधार विना अग्नि बुझ जाती है वैसे ही सर्व रागद्वेषके तापको शांतकर परम वीतरागता पूर्ण, परम धैर्यभावसे गंभीर, परम वीतरागके साथ तिष्ठे हुए आत्मानुभवके समुद्रमें स्नान करता है। तथा महामच्छके समान उसहीका जल पीता है, उसीमें अपना जीवन मानके परम तृप्तिको पाकर परम सुखी रहता है।

४७—आठकर्म नाटक।

एक भेदविज्ञानी महापुरुष इस जगतमें जीवाजीवादि पदार्थोंके समूहको द्रव्य व पर्यायकी दृष्टिसे यथावत् देखकर परम संतोष भावमें लीन है। वह जानता है कि संसार एक नाटक है। मैं उसका मात्र दृष्टा हूं। आठ कर्मोंका संयोग नाना प्रकारके भेष बनाते हैं। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे बहुतसा ज्ञान ढका रहता है। जितना उसका क्षयोपशम होता है उतना ही ज्ञान प्रगट रहता है। उस प्रगट ज्ञानके अनन्त भेद हैं। एक लब्ध्यपर्याप्तक निगोदजीवको सबसे कम ज्ञान है। उससे अधिक २ होता रहता है। जब ज्ञानावरणका सर्व उदय मिट जाता है, तब केवलज्ञानीको पूर्ण ज्ञान होजाता है। दर्शनावरण कर्मके उदयसे बहुतसा दर्शन गुण ढका रहता है। जितना उसका क्षयोपशम होता है उतना दर्शन गुण प्रगट होता है।

यह दर्शन गुण एकेन्द्रियमें बहुत अल्प है; सो ही बढ़तेर दर्शनावरण कर्मके सर्वथा-क्षयसे केवलज्ञानीके अनन्त दर्शन या पूर्ण दर्शन प्रगट होजाता है। मोहनीय कर्मके उदयसे नानाप्रकार एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान तथा विनय मिथ्यात्व भावके धारी प्राणी मिलते हैं।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन सोलह कषाय और हास्यादि नौ नोकषायके तीव्र मंद, मंदतर आदि उदयके कारण नानाप्रकार राग द्वेष भावोंके धारी, नानाप्रकार कामविकारके धारी तथा नानाप्रकारके अशुभ भावोंके व नानाप्रकार अन्य भावोंके धारी रूप जगतमें दिख रहे हैं। कोई परोपकार करता है तो कोई हानि पहुंचाता है, कोई रक्षा करता है, तो कोई संहार करता है, कोई सत्य वचन बोलता है, तो कोई असत्य बोलता है, कोई नीतिसे लेता देता है, कोई चोरी करता है, कोई सन्तोषसे धन कमाता है, कोई अति तृष्णा रखता है। जगतमें मोहनीय कर्मके विपाकमें अनन्तानन्त जीवोंके भावोंमें बड़ी ही विचित्रता देखनेमें आरही है। अन्तराय कर्मके उदयसे आत्मबल प्रगट नहीं है। जितना उसका क्षयोपशम है उतना आत्मबल एकेंद्रिय साधारण निगोदमें प्रगट है। वही अधिकर प्रकाशित होता हुआ केवलीके सर्वांश प्रगट है। आयु कर्मके उदयसे शरीरमें जीव कैद रहता है। नाम कर्मके उदयसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पतिके व द्वेंद्रियादि त्रसोंके, पशु तिर्यंचोंके, देव नारकादिकोंके, मानवोंके, नानाप्रकारके, सुहावने, असुहावने, छोटे, बड़े, भारी, लघु, शरीर बनते हैं। बाहरी दिखनेवाले सम्पूर्ण शरीरके आकार नामकर्मके ही उदयसे बने हुए हैं।

गोत्र कर्मके उदयसे योनिमें जीव जाता है वहां जन्म पाकर कोई उच्च कोई नीच माना जाता है। जगतमें उच्च नीचका भेद स्वाभाविक है। जगन्मान्यता अजगन्मान्यता सर्वत्र ही व्यवहारमें पाई जाती है। इसमें गोत्र कर्मका ही हाथ है। वेदनीय कर्म साता व असाता रूपसे उदय आकर नाना प्रकार साताकारी व असाताकारी पदार्थोंका संबंध मिलता है। क्षेत्र, मकान, रितु, संगति, वस्त्र, भोजन, स्त्री, पुत्र, चाकर आदि मनोज्ञ व अमनोज्ञ जगतमें मिलते हैं। उनमें वेदनीय कर्मका ही असर है। इस तरह आठ कर्मोंने संसार नाटक बना रक्खा है। वे आठ कर्म हरएक संसारी जीवके साथमें रहते आरहे हैं। उन्हींके कारणसे जगतके जीव चार गतियोंमें नाना भीतरी व बाहरी भेष बनाए हुए भ्रमते हैं। यदि इन आठ कर्मोंको जीवोंसे अलग देखा जावे तो ये सब भेष नहीं दिखते हैं। तब सर्व ही जीव एकाकार शुद्ध ज्ञान दर्शनमय समान दिखलाई पड़ते हैं। यही दृश्य परम समताभावका कारण है। मैं इसी समताभावमें रमणकर परमानन्दका स्वाद लेता हूं।

४८–सम्यक्ती चक्रवर्ती।

भेद विज्ञान वह कला है जिसके बलसे पुद्गलके नाना भांति आक्रमणोंके रहते हुए व पुद्गलके ही चक्रमें भ्रमते हुए भी भवसागरमें कभी डूबना नहीं होसक्ता। जिसको भेद विज्ञानका लाभ हो गया उसको भवसागरको अपनी भुजाओंके बलसे पार करनेका साधन हाथ लग गया। भेद विज्ञान वह चक्षु है जो पदार्थको यथार्थ देखनेवाली है। उसमें मोह मदिराका कुछ भी विकार नहीं है। वह

निर्विकार शुद्ध दृष्टि है जिसके प्रतापसे दुखोंके बादल भी आते हैं व चले जाते हैं तथा सुखोंके मनोहर नाटक भी होते हैं और बिगड़ जाते हैं। ज्ञाताद्रष्टा भेदविज्ञानी महात्माके भीतर ये सब विकारी भाव कुछ भी ममता मोह नहीं पैदा करते हैं।

भेद विज्ञान वह शस्त्र है जो कर्मोंके वंशको, मोहनीय कर्मको निरंतर अपनी चोटोंसे शिथिल व निर्बल करता रहता है। इसी शस्त्रसे एक दिन मोहका सर्वथा क्षय भी होजाता है। वास्तवमें सम्यग्दृष्टी चक्रवर्ती है। भेद विज्ञान उसका सुदर्शन चक्र है। इस छः द्रव्यमयी षट्खंड लोकपर पूरा अधिकार इसी चक्रके प्रभावसे सम्यक्‌दृष्टी जमा लेता है, कोई भी विपरीत शत्रु सामना नहीं कर सक्ता। इस चक्रीका नाम सुनते ही वश होकर पगोंपर सिर झुका देता है। लोकशिखरपर विराजित शिव कन्या इस चक्रीकी वीरता पर मोहित होजाती है। और शीघ्र ही इसे अपने निकट बुलाकर वर लेती है। और सदाके लिये इसे परम सुखी बना देती है।

भेदविज्ञानकी कला अनुपम ज्योति रखती है। इसके प्रकाशमें सूक्ष्मसे सूक्ष्म परमाणु भी तद्रूप ही झलकते हैं। जैसे रस्सीमें सर्पका भ्रम हो व स्तम्भमें पुरुषका भ्रम हो, व सीपमें चांदीका भ्रम हो, व घासमें जलका भ्रम हो, ऐसा भ्रामक भाव भेदविज्ञानकी ज्योतिके सामने रहता ही नहीं है। इस अपूर्व ज्ञानज्योतिके प्रकाशमें आत्मा आत्मारूप यथार्थ रूपसे अपने द्रव्य स्वभावसे झलकता है।

भेदविज्ञानी सम्यक्‌दृष्टी जीव संसारको पीछा करके व मोक्षको आगे करके चलता है। उसका मुख स्वतंत्रतापर व पीठ संसारवनकी

तरफ रहती है। वह संसारके कांटोंसे बहुत कुछ भिद चुका है, बहुत कुछ व्यथित होचुका है। संसारवनमें बहुत वार अनंत वार भटक चुका है। असह्य दुःखोंसे आकुलित हो उनसे बचनेका मार्ग ढूंढ़ते ढूंढ़ते वनमें बहुत कालतक उद्विग्न रहा, पथप्रदर्शक न मिला। एक दिन श्री गुरु विद्याधरने दूरसे देखकर भेदविज्ञानका मार्ग बता दिया। यह उसी मार्गसे चलता हुआ मोक्षरूपी निज महलमें जारहा है। स्वात्मानुभवका ही भोजन करता, स्वात्मानुभवका ही पान पीता। स्वात्मानुभवका ही वाहन रखता। स्वात्मानुभवके ही वस्त्र पहनता। स्वात्मानुभवमें ही विश्राम करता। स्वात्मानुभवके ही बलसे बढ़ा चला जाता और निरंतर आनंद मंगलसे परम संतोषी रहता हुआ स्वकर्तव्यमें दत्तचित्त होरहा है।

४९-सुखसागर।

भेदविज्ञानकी महिमा निराली है, जिसने इसको अपनाया है उसने ही भवसमुद्रसे पार होनेको नौका प्राप्त कर ली है। जब यह ज्ञानी अपनी सत्ताकी परीक्षा करता है तब इसको स्वस्वरूपकी खबर पड़ जाती है कि वह एक ऐसा अद्भूत आनन्दमय पदार्थ है जिसमें निरानंदकारक कोई विकारोंका सम्बंध नहीं है। वह बिलकुल शुद्ध पदार्थ है, मात्र अनुभव गोचर है; मन, वचन, कायकी वहां गम्य नहीं है। वह पदार्थ जो कुछ है वहीं मैं हूं। मैं संसारकी किसी भी पर्यायका धारी नहीं हूं। जितना सांसारिक खेल है वह सर्व कर्मजनित है, पुद्गल कृत है, पुद्गल भिन्न द्रव्य है, जीव भिन्न द्रव्य है।

अपनेको आप रूप ही जानना, परको परस्वरूप ही जानना भेदविज्ञान है। पानीके ऊपर चिकनई जैसे तैरती है वैसे ही सर्व अन्य द्रव्योंके मध्यमें आत्मा द्रव्य भिन्न ही झलक रहा है। भेद-विज्ञानके प्रतापसे स्वात्म लाभ होता है। स्वात्मानुभवसे ही आत्मा मोक्षमार्गपर गमन करनेवाला कहलाता है। स्वात्मानुभव ही एक ऐसी सड़क है जो सीधी विना रुकावटके मोक्षमहल तक चली आई है। जो कोई आंख मीचकर भी इस सड़कपर चलेगा वह अवश्य अपने इच्छित स्थानको पहुंच जायगा।

इस सड़कपर चलते हुए कभी कोई रुकावट व आकुलता नहीं होती है। निराकुलताके साथ जाते हुए स्वात्मानन्दका भोग भी होता है। स्वात्मानुभव योगियोंका परमप्रिय मंत्र है। इसके पढ़ते ही राग द्वेष मोह न मालूम कहां भाग जाते हैं। स्वात्मानुभवके प्रतापसे नवीन कर्मोंका संवर होता है और पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा होती है।

स्वात्मानुभव एक ऐसा क्रीडावन है, जहां आत्मा रमण करता हुआ कभी किसी विघ्नको प्राप्त नहीं करता है। उस रमणमें संसारका सर्व मायाजाल विस्मरण होजाता है और यह ज्ञानी एक ऐसे अद्वैत भावमें रमजाता है जहां कोई विचारकी तरंगे नहीं उठती हैं। इसीको सुखसागर भी कह सक्ते हैं। इसका स्नान परम पवित्रताका कारण है। इसका सार सुधामई जल भव तृषाको मिटानेवाला है और उसको ऐसा अनुपम आनंद देनेवाला है जिसका वर्णन वचनोंसे हो नहीं सक्ता, मन जिसका कुछ विचार नहीं कर सक्ता। स्वात्मानुभव भेदविज्ञानके प्रतापसे ही प्राप्त होता है। ऐसे विज्ञानकी सदा जय हो।

५०-आत्मभानु आराधन ।

एक भेदविज्ञानी महात्मा अपने घरमें अँधकार देखकर अचम्भेमें आजाता है। सूर्यके होते हुए अंधेरा होना क्या आश्चर्यकी बात नहीं है? परन्तु जब अंधेरा होता है तो सूर्यके ऊपर आए हुए मेघोंका दोष है-सूर्यका अपराध नहीं है इसीतरह भीतर मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म, अन्तराय कर्मका उदय ही अंधकारके फैलानेका जिम्मेदार है। आत्मप्रभुमें बिलकुल अंधकार नहीं है। आत्मप्रभु तो सूर्यके समान परम वीतरागी व ज्ञानमें प्रकाशमान है। इस कर्मके आवरणके हटानेका उपाय भेदविज्ञान द्वारा आत्मारूपी सूर्यका आराधन है। यही सूर्यपूजा है, यही सूर्यपूजा सूर्यको प्रकाश करनेवाली है और कर्म मेघ पटलोंको हटानेवाली है। शुद्ध निश्चयनय वह दृष्टि है जो शुद्धात्माको सिद्ध भगवानके समान दिखाती है। इस दृष्टिसे देखते हुए आत्मामें न आठ कर्म हैं न शरीरादि नोकर्म हैं. न रागादि भाव कर्म हैं, न मनका विकल्प है, न इन्द्रियजन्य ज्ञान है, न वचनका बिलास है, न कायकी क्रिया है, न कोई संसारकी अशुभ क्रिया है न शुभ क्रिया है, न कोई दुष्ट है न कोई सुष्टु है। न कोई शुभाचार है न कोई अशुभाचार है, न वहां श्रावकके अणुव्रत है न साधुके महाव्रत है, न वहां गुणस्थानकी श्रेणियां हैं। न वहां पूज्य है न कोई पूजक है, न वहां स्वामी है न कोई सेवक है। मैं मात्र अनुभवगोचर एक अखंड द्रव्य हूं। मेरा कोई सम्बन्ध जगतकी किसी भी शुभ अशुभ क्रियासे नहीं है। मैं व्यवहार धर्मसे अतीत हूं। न मुझे कर्मोंका आस्रव है न

कर्मोंका बन्ध है, न कोई संवर व निर्जरा तत्वका विकल्प है न मोक्षका उद्देश्य है, न वहां मोक्षमार्गका कोई संकल्प है। मेरा आत्म-सूर्य एक निराला ही पदार्थ है। जो कोई सर्व अन्यसे पराङ्मुख होकर इसी एक आत्मसूर्यको स्वानुभव रूप अर्घ चढ़ाता है, इसीकी सच्चे भावसे श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, वही कर्ममेघोंको हटाता जाता है। ज्यों२ भक्ति की जाती है त्यों२ मेघाडम्बर हटता है। भक्तिकी पराकाष्ठा वही है जहां कभी भी अद्वैतानुभवसे पीछा न पलटे। अखंड अद्वैतानुभव सर्व मेघाडम्बरको भगा देता है और आत्मभानुको यथार्थ रूपमें प्रकाश कर देता है।

आत्मभानुको पाना ही भेदविज्ञानका फल है। ज्ञाता प्रवीण पुरुष भेदविज्ञानके अद्भुत मंत्रके प्रभावसे जगतमें रहता हुआ भी जगतसे उदास है। वह निरंतर निजात्मारूपी सूर्यका भक्त होता हुआ सर्व अन्य विकल्पोंसे बुद्धि हटाकर अपने ही शुद्ध स्वरूपमें तन्मय होता है, उसीका स्वाद लेता है, परमानन्दको पाता है। परम तृप्तिको पाकर जिस अवस्थाको पहुंचता है वह वचन अगोचर है, मन अगोचर है, केवलज्ञानीके ही स्वानुभव गोचर है।

स्वानुभव।

१—एकांत मिथ्यात्वनिषेध।

मोक्षका द्वार स्वानुभव है, क्योंकि मोक्ष भी स्वानुभव है। जैसा साधन होता है वैसा साध्य होता है। स्वानुभवका मूल भेदविज्ञान है, जैसे दूधके विलोनेसे मक्खन निकलता है वैसे भेदविज्ञानके अभ्याससे स्वानुभव उत्पन्न होता है। स्वात्मानुभव स्वालम्बन है। परालम्बनका घातक है। स्वानुभव सुखसागर है, अतींद्रिय परमामृत-रूपी जलसे भरा है। इसमें जो मिठास है वह चक्रवर्ती इन्द्रादिके विषय-सुखमें नहीं है। स्वानुभव परम तृप्तिकारी भोजन है जो अनादिकी क्षुधाको मिटा देता है। स्वानुभव ही वह उष्ण वस्त्र है जिसको ओढ़ लेनेसे रागद्वेषकी शीतता असर नहीं करती है।

स्वानुभव वह दुर्ग है जिसमें बैठनेसे कर्मोंके प्रवेश होनेको मार्ग नहीं मिलता है। स्वानुभव वह ध्यानाग्नि है जो कर्म समूहको दग्ध कर देती है। स्वानुभव ही वह कला है जिससे गृहस्थ जीवनमें रहते हुए, क्षत्रिय हो युद्धादि करते हुए, वैश्य हो व्यापारादि करते हुए व नाना प्रकारका उद्योग धंधा करते हुए भी भववनमें भ्रमण नहीं होता है, जगके प्रपंच करते हुए भी अलिप्त रहनेकी कला स्वानुभवसे ही प्राप्त होती है। स्वानुभव ही वह दृढ़ जहाज है जो इस अथाह भवसमुद्रसे पार करके शिवद्वीपमें पहुंचा देता है। मिथ्यात्वकी काईको बुरा कहा जाता है क्योंकि यह अंधकार है जिसमें वस्तु जैसी है वैसी दिखलाई नहीं पड़ती है। एकान्त मिथ्यात्वके अन्धेरेमें यह अज्ञानी प्राणी वस्तुको नित्य ही या अनित्य ही, एक

ही या अनेक ही, सत्रूप ही या असत्रूप ही माना करता है। यह नित्य भी है अनित्य भी है, एक भी है अनेक भी है, सत्रूप भी है असत्रूप भी है ऐसा नहीं मानता है। आत्मा शुद्ध ही है या अशुद्ध ही है ऐसा मानता है, परन्तु आत्मा किसी अपेक्षा शुद्ध है किसी अपेक्षा अशुद्ध है ऐसा नहीं मानता है। जब आत्माको आत्माके निजद्रव्यमें देखा जाता है तो न वहां मिथ्यात्व है न वहां नयका विकल्प है, न वहां एकांत है, न अनेकान्त है, न वहां भाव है न अभाव है। न वहां मन है, न वचन है, न काय है। न कर्म है, न रागादि भाव है, न शरीर है। न कुछ चिंता है, न कुछ मनन है, न कुछ भेदविज्ञान है। अर्थात् अपने ज्ञानानंदमय स्वभावका ही झलकाव है। ज्ञानोपयोगका इसी शुद्ध आत्मीक द्रव्यकी सत्तामें या सुखसत्ता चैतन्यबोधमई प्राणधारी आत्मामें मग्न होजाना, गुप्त होजाना, समाधिमय होजाना ही स्वानुभव है।

२–विपरीत मिथ्यात्व निषेध।

एक ज्ञानी वीर भेदविज्ञानके प्रतापसे स्वानुभवका उद्योग करता हुआ पहले परसे भिन्नताकी भावना करता है। अनादिकालसे जिस विषके चढ़नेसे यह अपने शुद्धात्मानुभवसे छूटा हुआ भवभ्रमण करता रहा वह मिथ्यात्वका विष है। वस्तु अनेक धर्मात्मक होते हुए भी एक धर्मरूप ही है ऐसा एकांत मिथ्यात्व जिस तरह असत्य है उसी तरह विपरीत मिथ्यात्व भी असत्य है। हिंसासे धर्म नहीं होसक्ता तौभी हिंसामें धर्म मानकर यज्ञोंमें पशु होमना व देवी देवताओंके सामने भैसों व बकरोंका बलिदान करके चढ़ाना विपरीत

मिथ्यात्व है। निर्दयभाव ही पापबंधक है। उसे पुण्यबन्धक मानना ही मिथ्यात्व है। अहिंसा धर्म है, हिंसा अधर्म, इससे विरुद्ध मानना विपरीत है। मोक्षका साधन शुद्ध वीतराग परिणाम है, जो शुभ व अशुभ भावनाओंसे रहित है। इस तत्वको न जानकर जप तप, बाहरी संयम, बाहरी भेषको, द्रव्यलिंगको मोक्षका मार्ग मानना विपरीत मिथ्यात्व है। व्यवहार धर्मसे ही हित होगा, व्यवहारको अनावश्यक समझकर निश्चय धर्मके निश्चयाभास रूप वर्तनसे ही हित होगा यह विपरीत मिथ्यात्व है। व्यवहार धर्म मन, वचन, कायको समताके लिये सहायक है, स्वानुभवके लिये साधक है किन्तु जबतक स्वानुभव न हो स्वानुभवके निकट पहुंचनेके लिये व्यवहार धर्म साधक है, ऐसा यथार्थ न समझकर श्रद्धान करना विपरीत मिथ्यात्व है। मैं आज इस विपरीत मिथ्यात्वके विषको उगलता हूं। भेद विज्ञानके बलसे आत्माको शुद्ध, निर्विकार, अमूर्तिक, ज्ञाता दृष्टा, सिद्ध भगवानके समान ग्रहण करता हूं। और सर्व ही कर्म, नोकर्म व भावकर्मको अपनेसे पृथक् मानता हूं।

इस तरह द्वैतकी भावना करते हुए अब मैं अद्वैतपर आजाता हूं। पहले तो यह बार बार भावना करता हूं कि मैं सत् द्रव्य हूं। यद्यपि अभेद हूं तथापि सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध आदिके भेदसे भेद रूप हूं। इस भेद व अभेद कल्पनाको भी त्यागकर मैं आप अपने ही शुद्ध स्वरूपमें उसी तरह घुल जाता हूं जैसे निमककी डली पानीमें घुल जाती है। यही वचन अगोचर घुल जाना ही स्वानुभव है। वहां न अद्वैतका विचार है, न द्वैतका विचार है।

मन, वचन, कायकी चेष्टासे परे निजमें निजकी स्थिरताको स्वानुभव कहते हैं। यही आनंद सागर है, जहां निरन्तर अतिन्द्रिय आनंदका लाभ होता है।

३–अज्ञानमिथ्यात्व निषेध।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंके त्यागनेकी भावना करके भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखकर भिन्न२ पदार्थोंको भिन्न२ देखता है। किन्हीं अंध जीवोंके भीतर अज्ञान मिथ्यात्वका ऐसा दृढ़ प्रभाव होजाता है कि जिससे वे किसी तत्वके मर्मको समझनेकी चेष्टा नहीं करते हैं। अज्ञानसे देखादेखी धर्मकी क्रियाओंकी तरफ अमल करने लग जाते हैं। वे बिलकुल मूढ़तासे वर्तते हैं, उनको आत्मा व अनात्माका कुछ भी भेदज्ञान नहीं होता है। कभी वे सत्य क्रियाको सत्य व कभी असत्य मानने लग जाते हैं। कभी वे मान लेते हैं कि यह जगत ईश्वरकी माया है। उसकी विना इच्छाके कुछ भी काम नहीं होता है। वही सबसे अच्छा बुरा कराता है। कभी ऐसा मानते हैं कि जैसा अपना कर्म है वैसा उसका फल होता है।

लोगोंकी भिन्न२ किम्बदंतियां ही उनकी भाषा होती है। अज्ञान मिथ्यात्वके दोषसे गृसित प्राणी घोर तप भी करते हैं। उपवास व कायक्लेश करते हैं। उपसर्ग भी सहते हैं। भीतरमें आर्तपरिणाम होते हैं उनको भी वे सहते हैं। इसी लोभसे कि तप करनेसे स्वर्गादि शुभ धामका लाभ होगा, उनको इस बातकी पहचान नहीं होती है कि शुद्ध भावोंसे मोक्ष होती है व शुद्ध भाव प्राप्त करना चाहिये। यदि वे गृही होते हैं, वे गृहस्थका षट्कर्म साधते हैं, वे नित्य

देवदर्शन या पूजन करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, णमोकार मंत्रका जप करते हैं, नियम आखड़ी पालते हैं, रात्रिको भोजन नहीं करते हैं, अष्टमी चौदसको कभी एकासन करते हैं कभी उपवास करते हैं। हरी नहीं खाते हैं, दान भी देते हैं परन्तु इन सब क्रियाओंको मूढ़तावश देखादेखी करते हैं। साधनोंसे वीतराग भावोंकी सिद्धि करनी है इस तत्वको नहीं समझते हैं। अज्ञान भावसे बहुत दीर्घ कालतक बड़े भारी परिश्रमसे किया हुआ भी तप कर्मोंके मैलको नहीं काट सक्ता है। आत्मज्ञानपूर्वक थोड़ा भी किया हुआ तप कर्मोंकी बहुलताकी निर्जरा कर देता है।

अज्ञानके कारण प्राणी शुभ भावोंको ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं। जिन भावोंसे पुण्य बन्ध होता है उन्हींसे निर्जरा समझ लेते हैं। अज्ञानपूर्वक किया हुआ व्रत, जप, तप, शास्त्राराधन कंकड़ पत्थरके मूल्यके समान है। इस ज्ञानीने अज्ञान मिथ्यात्वको वमन कर दिया है। इसको इस बातका यथार्थ ज्ञान है कि अशुभ भावोंसे पाप बन्धता है, शुभ भावोंसे पुण्य बन्धता है तथा शुद्ध भावोंसे कर्मोंका क्षय होता है तथा धर्मका साधन एक मात्र भावोंकी शुद्धि हीके लिये करना योग्य है, और कोई कषाय जनित कामना न रखनी चाहिये। इस कारण ज्ञानी जीव स्वतंत्रताका अभिलाषी होकर बंधके नाशका परम पुरुषार्थ करता है। वह जानता है कि शुद्ध भाव ही वह ध्यानाग्नि है जो कर्मोंके ईंधनको जलाती है। जहां स्वानुभव है वहीं शुद्ध भावका प्रकाश है।

भेदविज्ञानके द्वारा जब अपने ही आत्माको सर्व आत्मद्रव्योंसे, सर्व पुद्गलादि अनात्म द्रव्योंसे, सर्व कर्मजनित विभावोंसे, सर्व प्रका-

रके शरीरोंसे, सर्व प्रकारके भेदभावरूप विकल्पोंसे भिन्न जाना जाता है और उपयोगको सर्व परसे हटाकर केवल अपने आत्माके शुद्ध द्रव्यमें उपयुक्त किया जाता है, परम लीन किया जाता है तब यकायक स्वानुभव उदय होता है। भेदविज्ञानरूपी उदयाचलसे स्वानुभवका सूर्य उदय होकर संसार भ्रांतिके तमको मेट देता है, आनंद कमलको प्रफुल्लित कर देता है व परमामृतके समुद्रमें स्नान करनेको उत्साहित कर देता है। स्वानुभव ही सामायिक है, यही यथार्थ भवोदधि तारक नौका है। जो चढ़ता है वह परमानंदमय होकर परम तृप्ति पाता है।

४—संशय मिथ्यात्व निषेध।

ज्ञान दर्शन गुणधारी एक अन्तरात्मा भेदविज्ञानके प्रतापसे जब जगतकी वस्तुओंको देखने लगता है तब उसे पता चलता है कि यह जगत छः द्रव्योंका मिश्ररूप विचित्र अवस्थाको रखनेवाला है। नर, नारक, पशु देव चार गतिमें नाना कुलधारी जीव नाना प्रकारका दृश्य बता रहे हैं। चर्म—चक्षुओंसे देखते हुए सर्व तरफ पुद्गल ही पुद्गल दिखलाई पडता है। सो भी पुद्गलके स्थूल स्कंध ही नजर आते हैं। सूक्ष्म स्कंध तथा परमाणुओंका तो दर्शन ही नहीं होता। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तो कहीं दिखते ही नहीं। चर्म-चक्षुधारी बहिरात्माको यदि कोई आत्मा, परमात्मा पुण्य तथा पापके अस्तित्वका उपदेश देता है तो उसके मनमें संशय मिथ्यात्वका उदय होजाता है। जीव है कि नहीं, पुण्य पाप है कि नहीं, इस द्विकोटि झूलेमें झूलनेके कारण यह बिचारा कुछ भी

निर्णय नहीं कर पाता है। मिथ्यात्वका पलड़ा अधिक भारी होनेसे वह धर्मकी तरफसे बेखबर रहता हुआ जीवन विताता है। अमूल्य नर जन्मको वृथा ही खोदेता है। अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिको पूरा निश्चय है कि जीवकी सत्ता विना पुद्गलका ज्ञान नहीं होसक्ता। पुद्गल न तो आपको जानता है और न परको जानता है। चेतना गुण जड़ स्कन्धोंमें कहीं भी दिखलाई नहीं पड रहा है तथा चेतना-गुण है अवश्य क्योंकि हरएकको इस बातका अनुभव है कि मैं जानता हूं। ज्ञान लक्षणसे ही जीव पुद्गलसे भिन्न झलक रहा है। चर्म–चक्षुको बंद कर जब ज्ञान नेत्रसे देखा जाता है तब जीव तथा पुद्गलकी सत्ताके साथ २ धर्मादि चार द्रव्योंकी सत्ता भी सिद्ध होजाती है। जीव पुद्गल इस जगतमें चलनेका, ठहरनेका, अवकाश पानेका तथा अवस्थांतर होनेका काम करते हैं। इन कामोंके मूल कर्ता तो ये ही हैं परन्तु जब हरएक कार्यके लिये उपादान (मूल) तथा निमित्त कारण दोनोंकी आवश्यक्ता पडती है तब निमित्त कारण क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल हैं। इस तरह बुद्धिद्वारा विचार करने पर छहों द्रव्योंका स्वरूप अन्तरात्मा ज्ञानीको झलकता है। जीवोंकी विचित्रता जो पुद्गलके संयोगसे नाना प्रकार दीख रही है इसकी तरफ जब यह ज्ञाता भेदविज्ञानकी सूक्ष्म दृष्टिसे देखता है तो इसे स्पष्ट पुद्गलसे भिन्न जीव दिख जाता है। इसे दिखता है कि इस मेरे ही जीवकी सत्तामें न ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी सत्ता है न रागद्वेषादि भाव कर्मोंकी सत्ता है, न शरीरादि नोकर्मोंकी सत्ता है न अनंतानंत और जीवोंकी सत्ता है। यह जीव सिद्ध भगवानके समान परम शुद्ध ज्ञान दर्शनमय अमूर्तिक

परमानंदका भंडार है। इस तरह निश्चय करके यह ज्ञानी सर्व परसे मुंह मोड़, एक अपने ही शुद्ध स्वभावकी तरफ सन्मुख हो एकाग्र हो जिस अवस्थाको प्राप्त होता है इसीको स्वानुभव कहते हैं।

स्वानुभवके प्रकाश होनेपर इसे अपना ईश्वरपना अपने ही भीतर नजर आता है। परम शांतिका साम्राज्य छा जाता है। परम सुखका विलास झलक जाता है। तब इसे ऐसी स्वरूपमग्नता प्राप्त होजाती है कि इसमें रहते हुए इसे यह विकल्प नहीं होता है कि मैं कौन हूं। जिसका मेरे साथ मेल है वह एक अद्वैत ब्रह्मभावमें पहुंच जाता है, जहां परम गंभीरता है, परम शीलता है, परम वैराग्य है। यही स्वानुभव ध्यानकी ज्वाला है जो आत्मारूपी सुवर्णको अवश्य शुद्ध कर देती है।

९-विनय मिथ्यात्व निषेध।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित हो भेदविज्ञानके स्वरूपका विचार कर रहा है। तब इसके सामने आत्माकी मूर्ति अलग व अनात्माकी मूर्ति अलग खड़ी होजाती है। जैसे चतुर सर्राफके सामने सोने, चांदीका मिश्रित आभूषण आनेपर उसकी बुद्धि सोनेको चांदीसे अलग देख लेती है। यथार्थ आत्माका श्रद्धालु ही सम्यग्दृष्टी है। जगतके प्राणी नाना प्रकार मिथ्यात्व भावमें गृसित होकर सम्यक् आत्मतत्वको नहीं पहचानते हैं। कोई२ विनय मिथ्यात्वके भावसे प्रेरित होकर भोले स्वभावको धारण करते हैं। सर्व ही धर्मोंको, सर्व ही देवोंको, सर्व ही साधुओंको, सर्व ही शास्त्रोंको एकसा लाभकारी मानकर सर्व हीकी समान भक्ति करके अपने सादे भोले-

पनसे ठगा जाते हैं । उनके इस समान विनयकी तृष्णाके अधिका-रमें सत्य तत्वका प्रकाश नहीं दीखता है । जैसे कोई सुवर्णका अभि-लाषी होकर भी असली सुवर्ण, कल्पित सुवर्ण, पीतल व दूसरी पीत धातुओंको एकसा मानकर आदर करने लग जावे तो उसको कभी भी असली सुवर्णका ज्ञान न होगा । वह बहुधा ठगाया जायगा । विनय मिथ्यात्वके कारण उसके भावमें सत्य धर्मसे, सत्य देवसे, सत्य गुरुसे व सत्य शास्त्रसे कभी भी हार्दिक प्रीति न होगी । ऐसे विनय मिथ्यात्वके दोषसे दूषित प्राणीको वेदांत समान आत्मा ब्रह्मांश है, यह भी तत्व उसी तरह पर जच जाता है जैसे सांख्यके समान आत्मा व पुरुष पृथक् २ हैं । यह तत्व मान्य होजाता है । वह आत्माको परिणामी भी मान लेता है । व अपरिणामी भी मान लेता है । यह उसे अशुद्ध मान लेता है व शुद्ध भी मान लेता है । उसको न संशय है, न विचार है, केवल मूढ़ भक्ति है ।

परमात्मा कृतकृत्य अकर्ता है, इस तत्वको वह जैसे मानता है वैसे परमात्मा जगतकर्ता है—यह बात भी उसे प्यारी लग जाती है । परमात्माको निर्गुण भी मान लेता है व सगुण भी मान लेता है । भिन्न२ अपेक्षासे भिन्न२ विवेचन है । ऐसा न समझते हुए भोलेपनसे सर्व ही विरुद्ध मान्यताओंको समान मानकर विनय करना मिथ्यात्व है । इस विनय मिथ्यात्वको दूर करके तत्वगवेषीने यथार्थ तत्व जाना है । यह ज्ञानी अनेक धर्मात्मक उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अनेक सामा-न्य व विशेष गुणोंके धारी अपने आत्माको निश्चयनयसे सिद्धके समान शुद्ध एकाकार रागद्वेष मोहरहित, कर्मरहित, मन, वचन,

कायके विकल्प रहित मानता है। अपने आत्माकी सत्तामें कथंचित् भाव व कथंचित् अभाव देखता है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सद्भाव है तब ही परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका अभाव है। इस तरह अपनेको परम शुद्ध एक ज्ञानदर्शन सुख वीर्यमय अविनाशी अमूर्तिक देखता हुआ यह ज्ञानी अपनी परिणतिको परसे हटाता है और मात्र एक स्वरूपमें जोड़ देता है। जोड़ते समय तो अनेक विशेषणों द्वारा आत्माका मनन होता है फिर ये सब विशेषण भी विलय होजाते हैं और यह एक अनिर्वचनीय स्वपदमें ऐसी विश्रांति पाजाता है कि जिसका कथन हो नहीं सक्ता। यही स्वानुभव है।

६-तीन प्रकार आत्मदशा।

एक ज्ञानी आत्मा जगतके आकुलतामय प्रपंचजालसे उदार होकर निराकुल परमानन्दमय पदमें विराजमान होनेकी भावना करता है। वह जानता है कि वह पद कहीं मुझसे भिन्न नहीं है, आप ही है। वह पद औदारिक तैजस व कार्माण इन तीन शरीरोंके तथा इन शरीरोंके फलसे होनेवाले विकारोंके भीतर गुप्त होरहा है। भेद-विज्ञानके प्रतापसे ही अपना स्वभाव भिन्न ज्ञानदृष्टिमें आसक्ता है।

शास्त्रोंके द्वारा व गुरुके उपदेश द्वारा व न्याय शास्त्रकी युक्तियोंके द्वारा अपना स्वभाव परसे भिन्न जान लेनेपर भी दृष्टि निज स्वरूपमें स्थिर नहीं होती है। इसका कारण यह है कि अनंतानुबन्धी क्रोधादि कषाय और दर्शन मोहनीय कर्मके विकारोंके कारण निज स्वरूपका स्वसंवेदन व स्वानुभव नहीं होता है। एकांत, विपरीत, अज्ञान, संशय तथा विनय इन पांच प्रकार व्यवहार मिथ्यात्वको त्याग

कर यह ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत जीवादि सात तत्वोंपर श्रद्धान लानेका उद्यम करता है। जीव और अजीव दो तत्वोंमें सकल विश्व गर्भित है।

यह विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्योंका समुदाय है। जीवकी ही शक्तिका जब विचार किया जाता है तब यह अनन्तानंत पर्यायोंके भीतर परिणमन कर सकता है। उन पर्यायोंमें बहिरात्मापना, अन्तरात्मापना तथा परमात्मापना मुख्य है। आत्माको आत्मारूप न मानकर अन्य किसी रूप मानकर सन्तोष रखनेकी अवस्था बहिरात्मापना मुख्य है। आत्माको आत्मारूप ही मानना, उसको अन्य रूप किंचित् भी न मानना अन्तरात्मापना है। अपनेको परमात्मारूप परिणतिमें रमाना परमात्मापना है। इनमेंसे बहिरात्मापना त्यागने योग्य है, अन्तरात्मापना ग्रहण योग्य है। फिर अन्तरात्मापना भी त्याग योग्य है। एक परमात्मापना ग्रहण योग्य है। इन सब विकल्पोंके भीतर एक शिष्यको रहना पड़े तो पड़े। ज्ञानी भेदविज्ञानके द्वारा निज वस्तुको ग्रहण कर जब उसीमें उपयोगकी थिरता कर देता है तब एकाएक स्वानुभवका उदय होजाता है तब आप आपमें विश्रांति पाकर जो आनंद अनुभव करता है वह मात्र अनुभवगम्य ही है। जो स्वादे वही जाने।

मार्गणाओंसे भेद।

एक ज्ञानी आत्मा भेद विज्ञानके द्वारा स्वानुभवका आनंद लेता है। वास्तवमें अतीन्द्रिय आनंद आत्माका स्वभाव है। जब ज्ञानमई उपयोग परसे उन्मुख हो आत्मस्थ होजाता है तब उसे

स्वाभाविक आनंदका स्वाद अवश्यमेव आता है। निज सुख शान्तिका विलास प्राप्त करना ही मानवका उच्चतम ध्येय होना चाहिये। अपने आत्मा रूपी क्रीडा-वनमें परम भक्तिके साथ रमण करना चाहिये। अनादिकालकी अविद्यासे ग्रसित मानव स्वपर तत्वका यथार्थ बोध न पाकर अपने स्वरूपके संवेदनसे रहित होरहा है सम्यग्दर्शनके प्रकाश होने ही पर स्वात्मानुभव होसक्ता है। जीव तत्त्वको विचार करते हुए जब निश्चय दृष्टिसे या सत्य स्वरूपकी अपेक्षासे विचार किया जाता है तो सर्व जीव मात्रका स्वभाव एकसा प्रगट होता है। सर्व ही जीव अपनी सत्ताको भिन्न २ रखते हुए भी स्वरूपसे समान हैं, गुणोंमें समान हैं। इन ही जीवोंको जब व्यवहार दृष्टिसे या भेदभावकी दृष्टिसे देखा जाता है तो मुक्त जीव शुद्ध व संसारी जीव अशुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। इस अशुद्धताका कारण कर्मोंका बंध है। कर्मबंधकी विचित्रताका कारण संसारी जीवोंकी विचित्रता है। उसी तरहसे जैसे जल निर्मल होनेपर भी भिन्न २ वर्णकी वस्तुओंके मेलसे नाना प्रकारका दिखलाई पड़ता है। यदि जीवोंकी नाना प्रकारकी अवस्थाओंकी सैर करें तो चौदह मार्गणाओंको देख जाना चाहिये।

गति मार्गणामें कोई नारकी है, कोई तिर्यंच है, कोई मानव है, कोई देव है। इन्द्रिय मार्गणामें कोई एकेन्द्रिय है, कोई द्वेन्द्रिय है, कोई तेन्द्रिय है, कोई चौंद्रिय है, कोई पंचेन्द्रिय है। काय मार्गणामें कोई पृथ्वी कायिक है, कोई जलकायिक है, कोई अग्नि कायिक है, कोई वायु कायिक है, कोई वनस्पति कायिक है, कोई

त्रसकायिक है। योग मार्गणामें कोई काय योगधारी है, कोई काय और वचन योगधारी है, कोई मन, वचन, काय तीनों योगधारी है। यद्यपि एक समयमें हरएक जीवमें एक ही योग उपयोग पूर्वक काम करता है। पूर्व प्रयोगसे अन्य योग भी काम करता रहता है। कोई स्त्रीवेदी है, कोई नपुंसकवेदी है, कोई पुरुषवेदी है, कोई तीनों वेदी हैं। यद्यपि एक कालमें एक ही वेद भाव रहता है। क्रोधादि चारों कषायोंके भीतर सर्व संसारी जीव मग्न हैं। यद्यपि एक समयमें क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे एक ही का आक्रमण रहता है, यह कषाय मार्गणा है।

ज्ञान मार्गणामें कोई मतिश्रुत उभय ज्ञानी है। कोई कुमति ज्ञानी है, कोई इन दोनोंके साथ कुअवधि, कोई सुअवधि ज्ञानी है, कोई मति श्रुत मनःपर्यय व कोई मति श्रुत अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञानी है, कोई केवलज्ञानी है। चार ज्ञान तक साथ रहते हुए भी एक कालमें एक ज्ञान ही काम करता है। संयम मार्गणामें कोई असंयमी है, कोई देश संयमी है, कोई पूर्ण संयमी है। पूर्ण संयमी होकर कोई सामायिक व छेदोपस्थापना दो संयम सहित है। कोई सामायिक छेदोपस्थापना व परिहारविशुद्धि तीन संयम सहित है। कोई सूक्ष्म सांपरायवान है, कोई यथाख्यातचारित्रवान है। यद्यपि एक कालमें एक ही संयम होता है।

इस तरह विचारते हुए ज्ञानी नाना विकल्पोंकी तरंगोंमें ग्रसित होता हुआ स्वानुभवसे बहुत दूर २ रहता है। अब यह इन सर्व विचारोंको त्यागता है और एक निश्चयनयकी दृष्टिसे सबको

समान देखता है, फिर अपने ही आत्माकी स्वेच्छ भूमिमें विश्राम पाकर संतुष्ट होजाता है तब निश्चय नय भी छूट जाता है और यह अपने ही उपवनमें एकाग्रतासे रमण करता हुआ अपने परम मित्र स्वानुभवके दर्शन पाकर परम कृतार्थ होकर परमानंदका भोग करता है।

८-मार्गणाओंके भेद।

ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई आत्मा सर्व बाधाओंसे रहित होकर एकांतमें निश्चल बैठ भेदविज्ञानके द्वारा तत्वोंका विचार कर रहा है। वह जानता है कि सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी चमकमें ही स्वानुभवका प्रकाश होता है। स्वानुभवके प्रकाशसे ही आत्मीक सुख व शांतिका अनुभव होता है। यह सम्यग्दर्शन यद्यपि आत्माका गुण है तथापि व्यवहार सम्यग्दर्शनके प्रयोगसे ही इसका निरोधक कर्ममल हटता है। व्यवहार सम्यग्दर्शनके विषयभूत तत्वोंका ज्ञान करनेपर चौदह मार्गणाओंका विचार करते हुए दर्शन मार्गणामें कोई अचक्षुदर्शनवान है, कोई अवधिदर्शन सहित तीन दर्शनधारी हैं, कोई केवलदर्शन-धारी हैं, यद्यपि एक समयमें एक ही दर्शन होता है। लेश्या मार्ग-णामें भावोंका विचार है। अशुभ, अशुभतर, अशुभतम भावोंको क्रमसे कृष्ण, नील व कापोत लेश्या कहते हैं। शुभ, शुभतर, शुभतम भावोंको क्रमसे पीत पद्म तथा शुक्ल लेश्या कहते हैं। संसारी जीव कोई तीन अशुभ लेश्याधारी हैं, कोई पीतलेश्या सहित चार लेश्याधारी हैं, कोई पद्म शुक्ल सहित छः लेश्याधारी हैं, कोई पीत पद्म शुक्ल तीन लेश्याधारी हैं, कोई एक एक लेश्याधारी हैं, एक समयमें एक ही लेश्या होती है। लेश्या ही कारण कर्मोंका सम्बन्ध होता है।

कोई जीव संसारमें भव्य हैं, कोई अभव्य हैं, कोई मिथ्यात्व भाव सहित हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्व भाव सहित हैं, कोई सासादान भाव सहित हैं, कोई उपशम सम्यक्‌दृष्टि हैं, कोई क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि हैं, कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं, कोई संसारी जीव मन सहित संज्ञी हैं, कोई मन रहित असंज्ञी हैं, कोई स्थूल शरीर बननेके योग्य वर्गणाओंको ग्रहण करनेके कारणसे आहारक हैं, कोई उन्हें न ग्रहण करनेके कारणसे अनाहारक हैं।

इसतरह चौदह प्रकारकी अवस्थाओंमें तलाश करते हुए संसारी जीवोंकी भिन्न २ दशाएं प्रगट होती हैं। आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध ही इन मार्गणाओंकी उत्पत्तिका मूल है। ये सब रचना परद्रव्यके संयोगके आश्रय होनेके कारणसे है। यदि आत्माको अकेला विचार किया जावे तो यह आत्मा सर्व तरहसे भिन्न है। आठ कर्मका न इसके संयोग है न रागद्वेषादि विभावोंका सम्बन्ध है। मैं आत्मा हूं। अपने ही शुद्ध गुणोंका स्वामी हूं, मैं ज्ञाता हूं, दृष्टा हूं, अविनाशी हूं, अमूर्तिक हूं वीतरागी हूं, परमानंदमई हूं, ऐसा ज्ञान, ऐसा श्रद्धान व ऐसा ही भीतरमें प्रकाश जब झलक जाता है तब सम्यक्त भाव प्रगट होजाता है। सम्यक्तके होते हुए जब सम्यग्दृष्टी अपने उपयोगको मनके विचारोंसे, वचनकी चंचलताओंसे, कायकी हलनचलनसे रोकता है और ऐसा स्थिर होजाता है कि आप आपमें समा जाता है, जिस समय मैं क्या हूं क्या नहीं हूं यह विकल्प नहीं रहता। हूं या नहीं उस झगड़ेका काम नहीं रहता। परम शांत भाव, परम अद्वैतभाव जागृत होजाता है। तब ही यह

गिर पड़ता है या फिर चौथेमें चला जाता है। यदि उपशम सम्य-क्तीके सम्यक्त मोहनीयका उदय आजाता है तब चौथे गुणस्थानमें रहते हुए भी क्षयोपशम या वेदक सम्यक्ती होजाता है। जब अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होजाता है तब देशविरत नाम पांचवें गुणस्थानमें आजाता है। वहां आकर श्रावकके व्रतोंको निय-मानुसार पालता है। जितना जितना प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय निर्बल होजाता है अर्थात् उसका क्षयोपशम बढ़ता जाता है उतना २ अंतरङ्ग व बहिरंग चारित्र बढ़ता जाता है। दर्शन प्रति-मासे लेकर व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग, उद्दिष्टत्याग इन ग्यारहों प्रतिमाओंके ऊपर चढ़ता चला जाता है। जब प्रत्या-ख्यानावरण कषायका बिलकुल उपशम होजाता है तब पांचवे गुण-स्थानसे एकदम सातवेंमें चढ़ जाता है। जब कोई महात्मा सर्व वस्त्राभूषण त्याग कर केशोंका लोच करता है और सामायिक चारि-त्रकी प्रतिज्ञा ग्रहण कर ध्यानमें बैठ जाता है तब सातवां अप्रमत्त-विरत गुणस्थान होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। फिर प्रमाद आजानेसे छट्ठे प्रमत्त गुणस्थानमें आजाता है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान बारम्बार हुआ करते हैं। प्रमत्तमें संज्वलन कषाय और नौ नोकषायका तीव्र उदय होता है। जब कि अप्रमत्तमें उन-हीका मन्द उदय होता है। यहांसे आगे उपशमश्रेणी तथा क्षपक-श्रेणी दो दरजे ऊपर चढ़नेके लिये हैं। जो साधु चारित्र मोहकी २१ प्रकृतियोंका उपशम करता है वह उपशमश्रेणी चढ़ता है। तथा

जो इन प्रकृतियोंका क्षय करता है वह क्षपकश्रेणी चढता है। उपशमश्रेणीके आठवें, नौमें, दसवें, ग्यारहवें गुणस्थानोंकेद्वारा मोहनीय कर्मका उपशम कर देता है। अन्तमुहूर्त पीछे अवश्य पतन होता है। मोक्षगामी जीवको अवश्य क्षपकश्रेणी पर आना पडता है। क्षपकश्रेणीके आठवें, नौवें व दशवें गुणस्थानकेद्वारा मोहका सर्वथा क्षय होजाता है। तब साधु १० वेंसे बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थानमें आजाता है। वहां अन्तर्मुहूर्त ठहरकर शुक्लध्यानके प्रभावसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तरायको क्षय करके तेरहवें गुणस्थानमें आकर जिन अरहन्त होजाता है फिर आयु पर्यन्त ठहरकर कुछ काल पहले ही चौदहवें गुणस्थानमें आजाता है। तब नाम गोत्र वेदनीय आयुका नाशकर सिद्ध परमात्मा होजाता है। ये १४ गुणस्थान कर्म और आत्माके संयोगसे हैं। जब ज्ञानी कर्म संयोग रहित शुद्ध आत्मामें उपयोग लगाता है और उस उपयोगको पांच इंद्रिय तथा मनके विकल्पोंसे हटा लेता है तब भेदज्ञानपूर्वक यकायक स्वानुभवका उदय होजाता है। यही सच्चा आनन्दामृतका स्रोत है।

१०-पुद्गल द्रव्य विचार।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प-विकल्पोंको त्यागकर जब एकांतमें बैठता है तो उसको भेदविज्ञानरूपी मित्रका स्मरण होजाता है। भेदविज्ञानके महात्म्यसे ही स्वानुभवका प्रकाश होता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, स्वानुभव ही अभेद रत्नत्रय है। स्वानुभव ही ध्यानकी शक्ति है जो कर्मोंके ईंधनको जलाती है। स्वानुभव

ही परमानन्दका सागर है। स्वानुभव ही साधन है। स्वानुभव ही साध्य है। जहां सम्यक्‌दर्शन स्वरूप आत्मीक गुणका प्रकाश होता है वहींपर स्वानुभवका उद्योत होजाता है।

इस सम्यक्त रत्नको रोकनेवाले मिथ्यात्व कर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। इनका उदय जब मिटता है तब उपशम सम्यक्त पैदा होता है। जीवादि सात तत्वोंके श्रद्धानसे भेदविज्ञान पैदा होता है। भेदविज्ञानसे ही सम्यक्तका प्रकाश होजाता है। यह जीव अपनी सत्ता सर्व संयोगजनित भावोंसे निराली रखता है। यह जीव निश्चयसे चौदह गुणस्थान तथा मार्गणास्थानोंके विकल्पसे निराला है।

यदि सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जावे तो यह जीव अपने सर्व गुण और स्वभावोंको पिये हुए अखंड अभेद अमिट द्रव्य है जो त्रिकाल अबाधित है, अनन्य है, निश्चल है, परसंयोग रहित है। न कर्मादिसे बन्धा है न उनसे स्पर्शित है, परमानंदमई है। इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेद भी व्यवहारनयसे हैं। निश्चयसे यह भेद रहित अभेद है। इस जीव पदार्थसे भिन्न अजीव पदार्थ है। जिसके पांच भेद वास्तविक हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो पूरे और गले, मिले और विछुड़े उसे पुद्गल कहते हैं। यह लक्षण परमाणुमें पाया जाता है। परमाणु अपनेसे दो अंश अधिक स्निग्ध तथा रूक्ष गुणके कारणसे परस्पर मिलकर स्कंध बन जाते हैं। यद्यपि एक जघन्य अंश सहित परमाणु अबन्ध होता है तथापि कालांतरमें जब द्रव्य, क्षेत्र, कालके निमित्तसे उसमें अंशवृद्धि हो

जाती है तब वह भी बंध योग्य होजाता है। इस दो अंश अधिकके नियमसे पुद्गलोंमें परिवर्तन हुआ करता है। कभी स्निग्धताके अंश अधिक होते हैं तब रूक्ष परमाणु भी स्निग्ध होजाता है। कभी रूक्षताके अंश अधिक होते हैं तब स्निग्ध परमाणु रूक्ष होजाता है। परमाणु इतना छोटा होता है कि उसका दूसरा अंश नहीं होसक्ता है। परमाणुमें पांच गुण सदा पाए जाते हैं।

एक कोई रस, एक कोई गन्ध, एक कोई वर्ण तथा दो स्पर्श स्निग्ध या रूक्षमेंसे एक, ठण्डा व गर्ममेंसे एक स्कन्धमें दो गुण अधिक होजाते हैं। हलका या भारीमेंसे एक, नरम तथा कठोरमेंसे एक। इन पुद्गलोंके छः प्रकारके भेद जगतमें पाए जाते हैं। १-स्थूल २-जैसे कठोर पदार्थ लकड़ी, मिट्टी, पत्थर जिनके दो खण्ड किये जानेपर स्वयं न मिल सकें। २-स्थूल-जैसे वहनेवाले पदार्थ पानी दूध, आदि जो अलग होनेपर स्वयं मिल जाते हैं; ३-स्थूल सूक्ष्म-जो देखनेमें आवें, परन्तु ग्रहण न होसकें। जैसे धूप, छाया, उद्योत। ४-सूक्ष्म स्थूल-जो देखनेमें न आवें, परन्तु अन्य चार इन्द्रियोंसे ग्रहण हों जैसे हवा, शब्द, गन्ध, रस। ५-सूक्ष्म-जो कोई भी इन्द्रियसे ग्रहणमें न आवें। जैसे कार्माण, तैजस, भाषा, मन व आहारक वर्गणा। ६-सूक्ष्म सूक्ष्म-एक पुद्गलका अविभागी परमाणु। इस तरह विकल्पोंको करते हुए उपयोग परके विचारमें फंस जाता है। ज्ञानी उपयोगको हटाकर निज शुद्ध स्वरूपमें उसे जोड़ता है। जोड़नेके साथ ही स्वानुभव उत्पन्न होजाता है। तब जो परम संतोषपूर्ण आनन्द प्राप्त करता है, उसका कथन

हो नहीं सक्ता। वह केवल अनुभवगम्य है, वही योगियोंका ध्येय है व इसे ही सिद्ध परमात्मा निरन्तर भोगते रहते हैं।

११-चार अजीव विचार।

एक अज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठकर स्वानुभवके लिये विचार करता है। भेदविज्ञान स्वानुभवका मूल है। जिसको अपने आत्माका स्वरूप सर्व पर आत्माओंसे, पुद्गलके परमाणु व स्कंधोंसे; धर्म, अधर्म, आकाश व कालसे तथा सर्व रागादि संयोगिक भावोंसे भिन्न झलक जाता है, वही अपने स्वरूपको पाकर उसमें रमण करने लग जाता है, यही रमण ही स्वानुभव है। भेदविज्ञानका सच्चा प्रकाश सम्यक्‌दर्शन गुणके प्रकाशपर निर्भर है। इस गुणपर जिन कषायोंका व दर्शनमोहका परदा पड़ा है उनके उदयको हटानेके लिये व्यवहार सम्यग्दर्शनका सेवन आवश्यक है। व्यवहार सम्यक्तके विषय जीवादि सात तत्व हैं।

अजीवपर विचार करते हुए पुद्गलका स्वरूप कथित होचुका है। शेष चार द्रव्योंकी क्यों आवश्यक्ता है इस बातपर विचार किया जावे तो प्रगट होगा कि छः द्रव्योंमेंसे दो द्रव्य ही क्रियावान हैं, हलनचलनशील हैं तथा विभावरूप या विकार भाव शक्ति रखते हैं। संसाररूपी नाटकमें ये ही दोनों नाचनेवाले हैं।

जीव पुद्गलका ही जगतमें नाटक है। ये ही मुख्य चार क्रियाओंको करते हैं, चलते हैं, ठहरते हैं, स्थान पाते हैं तथा परिणमन करते हैं।

हरएक कार्यमें उपादान और निमित्त दोनों कारणोंकी आव-

श्यक्ता है। वस्तुमें जो पर्यायोंमें परिणमनकी शक्ति है वही उपादान कारण है। उस परिणमनमें जिन सहायकोंकी जरूरत पड़ती है वे ही निमित्त कारण हैं।

सुवर्णसे आभूषण बनता है, मिट्टीसे घडा बनता है, गेहूंसे रोटी बनती है, परमाणुओंसे स्कंध बनते हैं। इन दृष्टांतोंमें उपादान कारण क्रमसे सुवर्ण, मिट्टी, गेहूं तथा परमाणु हैं। निमित्त कारण अनेक शस्त्र, सुनार, कुम्हार, पाचक तथा द्रव्य क्षेत्र कालादि हैं।

ऊपर लिखित जीव व पुद्गलोंके चार मुख्य कामोंके लिये उपादान कारण तो वे स्वयं ही हैं। निमित्त कारण कोई नित्य द्रव्य चाहिये। अतएव जो जीव तथा पुद्गलोंके गमनमें सहकारी निमित्त है वह धर्म द्रव्य है, जैसे मछलीके गमनमें जल निमित्त है। इनके ठहरनेमें जो निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है। जैसे मुसाफिरको छाया। स्थान पानेमें निमित्त आकाश द्रव्य है। परिणमने या पलटनेमें निमित्त काल द्रव्य है। आकाश अमुर्तिक अनंत है। इसीके मध्यमें लोक है, लोकव्यापी अमूर्तीक धर्म द्रव्य है। लोक व्यापी अमुर्तिक अधर्म द्रव्य है। कालाणु द्रव्य एक प्रदेशधारी है। लोकाकाशकी माप यदि प्रदेशकी मापसे की जावे तो इसके असंख्यात प्रदेश आते हैं। यह कालाणुद्रव्य भी असंख्यात हैं, अलग २ हैं, कभी मिलते नहीं हैं, अमूर्तीक हैं। इनहीसे समय पर्याय तब प्रगट होती है जब पुद्गलका परमाणु मन्द गतिसे एक कालाणुको उलंघकर निकटवर्ती कालाणुपर जाता है। जगतमें ऐसा हलन चलन परमाणुओंमें होता रहता है। समय पर्यायको ही व्यवहारकाल कहते हैं। अविभागी पुद्गल

परमाणु जितने आकाशको रोके वही प्रदेश जीव अजीव स्वरूप छः द्रव्योंका समुदाय ही यह जगत है। इस मनके चिन्तवनके अंधकारमें अपना स्वरूप नजर नहीं आता है। अतएव भेदविज्ञानी अपने उपयोगको मनके विचारोंसे भी हटाता है और उसे अपने आत्माके भीतर जोड़ देता है, सर्व चिंताओंसे निवृत्त होजाता है। बस यकायक स्वानुभवका प्रकाश होजाता है। इस भावके उदय होते ही परमानन्दका झलकाव होजाता है। संसारमें रहते हुए ही सिद्ध भगवानकी सी दशाका लाभ होजाता है और वचनातीत संतोष प्राप्त होता है।

१२-योगशक्ति आस्रव है।

एक ज्ञानी आत्मा स्वानुभवके लिये भेदविज्ञानके दर्पणको लेकर जगतका अवलोकन करता है तब उसको सर्व ही द्रव्य अपने२ स्वभावमें दिखलाई पड़ते हैं। वह अन्य सर्व परद्रव्योंसे उपयोगको हटाकर जब आपसे ही आपमें ही रमण करता है तब यकायक स्वानुभव जागृत होजाता है। जहां विकल्प, विचार, व हलन चलन सर्व ही बन्द होजाते हैं, एक निश्चल समुद्रके समान आत्माकी परिणति होजाती है। और जैसे मधुकर मधु पुष्पमें रमणकर तन्मय होजाता है वैसे ही तत्वज्ञानी निज तत्वमें रम जाता है। इस स्वानुभवमें स्वरूपभाव अद्वैतरूपसे झलकता है। इसका कारण सम्यग्दर्शनरूपी परम मित्र है। सम्यक्तके प्रभावसे ही अपना दर्शन होता है, अपना प्रेम होता है, आत्मकलाकी जागृति होती है। इस सम्यक्तके निरोधक अनन्तानुबन्धी कषाय तथा दर्शन मोह हैं। इनका

उदय या विपाक मिटानेका उपाय व्यवहार सम्यक्तके द्वारा तत्वोंका मनन है। यह सम्यक्त सात तत्वोंकी श्रद्धापर आलंब रखता है। जीव व अजीवका विचार कर चुका है। अब यह आस्रव तत्वका विचार करता है।

आत्माका स्वरूप विचार किया जावे तब तो इसमें आस्रवके कारण कोई भी भाव नहीं हैं। न इसमें पांच प्रकार मिथ्यात्व है न हिंसादि अविरत भाव है, न प्रमाद है, न कषाय है और न मन वचन कायके परिणमनद्वारा आत्मप्रदेशोंका परिस्पंदन होता है। मन वचन कायकी क्रियाद्वारा जो आत्मप्रदेश परिस्पंदन होता है वही द्रव्ययोग है। द्रव्ययोगके होते ही भाव योग जो कर्मवर्गणाओंके आकर्षणकी एक शक्ति है वह काम करती है। वह शक्ति द्रव्य पुद्गलोंके उदय विना या पुद्गलकी उत्तेजना विना अपना काम करनेके लिये प्रस्तुत नहीं होती है। जैसे वीर योद्धा वीरता व रक्षकत्वकी शक्ति रखते हुए विना कारण किसीकी रक्षामें व किसीके घातमें प्रवृत्त नहीं होता है वैसे ही विना कर्मोंके उदयकी प्रेरणाके योगशक्ति काम नहीं करती है। संसार दशामें अनंतकालसे यह संसारी प्राणी पुद्गलके संयोगमें ही है अतएव इसकी योगशक्ति शरीर नामकर्मके उदयसे काम करती रहती है।

एकेन्द्रियोंके केवल कायके वर्तनद्वारा, द्वेन्द्रियके काय और वचनके वर्तनद्वारा, पंचेन्द्रिय सैनीके काय, वचन या मनकेद्वारा, एक समयमें तीनोंमेंसे एकके वर्तनद्वारा योगशक्ति काम करती है। पुद्गल संयोग रहित आत्मामें यह शक्ति काम नहीं करती है क्योंकि

न वहां द्रव्ययोग है न मन वचन कायका आलम्बन है। विग्रह गतिमें कार्माण योगद्वारा यह शक्ति काम करती है। अतएव सर्व ही जन जागृत, निद्रित व विग्रहगति या स्थूल शरीर रहित अवस्थामें योगकी प्रणालिकाद्वारा कर्मवर्गणाओंका आस्रव करते हैं। एक मात्र अयोग केवली नहीं करते हैं, न सिद्ध परमेष्ठी करते हैं।

इस तरह आस्रवका विचार करते हुए विचारोंके जालमें उलझा हुआ प्राणी अपने तत्वसे बाहर रहता हुआ स्वानुभवसे दूर दूर हो जाता है। अब यह अपनी विचार-सरनिको बन्द करता है और मनकी संगतिको त्यागता है। आप आत्मा अकेला होजाता है, असंगमें रम जाता है, अपने ही स्वभावमें आप ही समा जाता है। स्वानुभवमें पहुंच जाता है। तब जो निजानंदमई अमृतका स्वाद पाता है, उसका स्वाद वचन अगोचर मात्र अनुभवगम्य है।

१३-१०८ जीवाधिकरण।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिंताओंसे निश्चिन्त होकर भेदविज्ञानके प्रतापसे आत्माको आत्मा व अनात्माको अनात्मा जानता है। क्योंकि आनंदका सागर आत्मा ही है, शांतिका समुद्र आत्मा ही है। अतएव तत्वज्ञानी अनात्मासे उपेक्षा बुद्धि करके आत्मीक निर्मल समुद्रमें मग्न होकर स्वानुभवका लाभ प्राप्त कर लेता है। इस भेदविज्ञानका यथार्थ उपाय सम्यक्दर्शनका लाभ है। यह सम्यक्त आत्माका ही गुण है। इसको आवरण करनेवाला मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायका विकार है। इस विकारके मेटनेका उपाय सप्त तत्वोंका ज्ञान व मनन है।

जीव व अजीव तत्वोंका विचार करनेके पीछे यह ज्ञानी आस्रव तत्वपर दृष्टिपात करता है। आस्रवके होनेमें योग और कषाय मुख्य हेतु हैं। योगोंमे कार्माणवर्गणा आती है। कषाय संबंधी भाव अनेक प्रकारके होते हैं। इससे आस्रव भी अनेक प्रकारका होता है। तीव्र क्रोधादि कषायसे अधिक व मंद क्रोधाग्निसे कम आस्रव होता है। जानबूझकर कोई कार्य करनेपर यदि उस कार्यसे विराग है परन्तु किसी प्रयोजन वश करना पडता है तो कम आस्रव होता है।

यदि उस कार्यसे तीव्र राग है और जानकरके भी ढीठतासे करता है तो अधिक आस्रव होता है। भोलेपनसे विना जाने कार्य करनेपर कम जब कि ढीठतासे न जानकर कार्य करनेसे अधिक आस्रव होता है। जैसा जीव सम्बन्धी कामका व अजीव सम्बन्धी संयोगका आधार होता है वैसा कम या अधिक कर्मास्रव होता है। जीवोंके भावोंके मूल भेद १०८ प्रकार हैं। उत्तर भेद ४३२ हैं। और भी उत्तर भेद संख्यात तथा असंख्यात होसकते हैं। यह जीव किसी कामको स्वयं करनेका मनसे विचार करता है, उस विचारको वचनसे कहता है व कायके संकेतसे बताता है। किसी कामको परसे करा-नेका मनसे विचार करता है, उसे वचनसे कहता है, कायसे संकेत करके बताता है। किसीने किसी कामका विचार किया है यह उसकी अनुमोदना या प्रशंसा मनसे, वचनसे या कायके संकेतसे करता है। इस तरह मन, वचन, कायसे कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा नौ भेद हुए। यह नौ भेद संरम्भ या संकल्प या विचार करनेकी अपे-

क्षासे हुए। इसी तरह नौ भेद समारम्भ तथा आरम्भके होंगे। किसी कामको करनेके लिये सामग्री जुटाना, प्रबन्ध जोड़ना समारम्भ है। किसी कामको करने लगना आरम्भ है।

इस तरह २७ सत्ताईस भेद होते हैं। कोई मन, वचन, कायका वर्तन क्रोधवश, कोई मानवश, कोई मायावश, कोई लोभवश होता है। इस तरह १०८ भेद जीवकी प्रवृत्ति द्वारा होते हैं। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलनके भेदसे कषायके चार भेद हैं। अतएव सर्व भेद ४३२ होते हैं। इनमेंसे किसी न किसी भावमें सना हुआ यह जीव कर्मोंका आस्रव करता है। शरीर व परवस्तुका संयोग भी निमित्त होता है। इस तरह यह आत्मा उसी तरह कर्मरूपी मैलको एकत्र करता है जिस तरह काले पानीमें चलता हुआ जहाज छिद्रित होकर काले पानीका संचय करता है। काले पानीसे निर्मल जहाज मलीन व चलनेमें अशक्य होजाता है उसी तरह यह आत्मा कर्म-मैलको एकत्र कर मलीन होजाता तथा मोक्षद्वीपकी तरफ चलनेको अशक्य होजाता है। इस तरह विचारकी तरंगोंमें डोलायमान होता हुआ यह मन आत्मानुभवसे दूर२ चला जाता है। अब यह अपने कार्यकुशल प्रवीण उपयोगको मनके विचारोंसे रोकता है व इन्द्रियोंके द्वारा भी उसको वर्तन नहीं कराता है। ज्ञानी इस उपयोगको एकाग्र करके अपने आत्मामें ही रमा देता है, आत्मस्थ होजाता है, आत्मीक उपवनमें क्रीड़ा करने लगता है। अनुपम स्वानुभवको पाकर मन, वचन, कायके वर्तनसे बाहर चला जाता है और परमानंदित होजाता है।

१४-११ अजीवाधिकरण।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मानंदके पानेका उपाय स्वानुभवको ही समझता है। स्वानुभवका कारण भेदविज्ञान है। वास्तवमें देखा जावे तो हरएक आत्मा अपने स्वभावसे स्वानुभवमें ही विद्यमान है। परन्तु कर्मोंकी अनादि संगतिके कारण यह जीव मोहके नशेमें चूर होकर परानुभवमें ही दिन रात वर्तन कर रहा है। दर्शन मोहकी प्रबलतासे इसको आत्माका असल स्वभाव भी स्मरणमें नहीं रहा है। यह अज्ञानी रागादि विकारोंको अपने आत्माके वीतराग विज्ञानमय स्वभावसे भिन्न नहीं जानता है न प्रतीतिमें लाता है। इसीसे कभी भी परसे उन्मुख हो निज आत्माका अनुभव नहीं कर पाता। वास्तवमें स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है व प्राणीके कल्याणका उपाय है।

भेदविज्ञानकी प्राप्ति तब ही यथार्थपने होती है जब सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश हो। उसके प्रकाशके लिये अनंतानुबंधी कषायोंके व मिथ्यात्व कर्मके हटानेकी आवश्यक्ता है। इस कार्यका उपाय सात तत्वोंका मनन है। आस्रव तत्त्वपर विचार करते हुए जीवाधिकरणके भेद जाने जाचुके हैं। अजीवके आधारसे भी कर्मका आस्रव होता है इसलिये अजीवाधिकरणके ११ भेदोंको भी जाननेकी आवश्यक्ता है।

रचनाको निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं—मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीरादिकी रचना मूलगुण निर्वर्तना है व शरीरके द्वारा पुस्तक, चित्राम, मकान, वस्त्र, वर्तन आदिकी उत्तरगुण निर्वर्तना है। बहुतसे काम पदार्थोंके बनावटके किये जाते

हैं, उनमें ये दोनों निर्वर्तनाएं उपयोगमें आती हैं। इनके आधारसे जैसा अभिप्राय होता है वैसा कर्मोंका आस्रव होता है। यदि कोई शस्त्रको बनाता है तो उसका भाव हिंसारूप भी होसकता है और रक्षा रूप भी होसकता है। शुभोपयोगसे की गई रचना पुण्य बन्धक है जब कि अशुभ उपयोगसे की गई रचना पाप बंधक है।

निक्षेप चार प्रकारका है। अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण–विना देखे हुए प्रमादभावसे किसी वस्तुको रख देना। दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण–दुष्टतासे क्रोधमें आकर किसीकी प्रेरणासे किसी वस्तुको पटक देना। सहसा निक्षेपाधिकरण–जल्दीमें किसी वस्तुको जहां तहां पटक देना। अनाभोग निक्षेपाधिकरण–जिस वस्तुको जहां रखना चाहिये वहां न रखकर कहीं भी रख देना। इन चार प्रकारके निक्षेपोंमें प्रमादभाव है, जिससे कषायका उद्वेग झलकता है। यह क्रियाएं इसीलिये आस्रवमें विशेष आधार होजाती हैं।

राग भावके वश होकर खानेकी वस्तुमें पीनेकी वस्तु मिलाना भक्तपान संयोग है। शीत वस्तु उष्ण वर्तनमें व उष्ण वस्तु शीत वर्तनमें रख जानेकी क्रिया प्रयोजनवश की जाती है। इसलिये वे भी आस्रवमें निमित्त होजाते हैं।

द्रव्य मन, द्रव्य वचन व द्रव्य कायका वर्तना भी निमित्त पड़ता है। इस तरह ११ निमित्तोंके आधीन होकर यह प्राणी अजीवके आधारसे कर्मोंका आस्रव करता है।

इस तरह भेद व्यवहारका विचार करते हुए उपयोग थिर नहीं होता। अतएव ज्ञानी जीव अपने उपयोगको सर्व परभावोंसे

रोकता है और एकाग्रताके साथ अपने आत्माके गुणोंके भीतर रंजा-यमान करता है। आत्मीक गुणोंका चिंतवन करते हुए यह ज्ञानी यकायक जब आत्माके भीतर तन्मय होजाता है तब इसको स्वा-नुभवका लाभ होजाता है। स्वानुभवके प्रतापसे यह परमानन्दका लाभ करता है। और परम संतोषको पाकर सच्चा मोक्षमार्गी बन जाता है।

१५-ज्ञानावरण दर्शनावरणास्रवके विशेष भाव।

एक ज्ञानी आत्मा स्वानुभवके लाभके लिये भेदविज्ञानका विचार करता है। भेदविज्ञानके ही प्रतापसे स्वानुभवका लाभ होता है। भेदविज्ञानमें ही वह शक्ति है जो हरएक द्रव्यको भिन्न२ अपने स्वरूपमें झलकाती है। मिश्रित द्रव्योंकी पहचान इसीके द्वारा होती है। आत्मा कर्मपुद्गलोंके साथ दूध पानीकी तरह मिला हुआ है। इसका पृथक्२ करण सूक्ष्म विवेकसे ही होता है तब अपना ही आत्मा सर्व अन्य द्रव्योंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे भिन्न ही झल-कता है। तब यह सिद्धसम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक अविनाशी परमानंदमई व परम शांत प्रतीतिमें आता है। इसी प्रतीति भावमें उपयोगकी स्थिरताके होते ही स्वानुभव होजाता है।

तथापि इस अपूर्व लाभका लाभ मिथ्यादृष्टिको नहीं होता है, सम्यग्दृष्टिको ही होता है। सम्यग्दर्शन आत्माका एक गुण है उसका प्रकाश उस समय तक नहीं होता है जबतक अनन्तानुबंधी कषाय तथा मिथ्यात्वका उदय हो। अतएव इन विकारोंके हटानेके लिये व्यवहार सम्यग्दर्शनका मनन कार्यकारी है। सात तत्वोंका यथार्थ

श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इन तत्वोंके विचारमें आत्म-
वका मनन होरहा है।

जीव और अजीवके वर्तनके आधारसे आयु कर्मके सिवाय
ज्ञानावरणादि सात कर्मोंका आस्रव हर समय हरएक जीवके नौमे
गुणस्थान तक होता है। दशवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थानमें मोहनीयकर्मका
आस्रव बन्द होकर छःका ही होता है।

फिर ग्यारहवें, बारहवें व तेरहवें गुणस्थानोंमें केवल सातावेद-
नीयका ही आस्रव होता है। तथापि जिस कर्मके कारण भावोंमें
विशेष झुकाव होता है, उस कर्मका बन्ध होते हुए उसमें अनुभाग
शक्ति अधिक पड़ती है। ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मके आस्रव-
विशेष भावोंका विचार इस प्रकार है। यथार्थ ज्ञानकी बात सुनकर
भी मनमें प्रसन्न न होकर ईर्षा भाव रखना प्रदोष भाव है। आप
शास्त्रोंको जानता है, शरीरकी भी शक्ति रखता है कि दूसरोंको भले
प्रकार समझादे तौ भी किसीसे पूछे जानेपर अपने ज्ञानको छिपाले,
यह भाव करे कि यदि बता दूंगा तो मुझे समझाना पड़ेगा और मेरा
समय व शक्ति वृथा खर्च होगी। अथवा जिस गुरुसे ज्ञान प्राप्त
किया है, उसका नाम छिपादे, यह सर्व भाव कषायवश किये हुये
निह्नवमें आजाते हैं।

कोई२ ईर्षाभाव करके दूसरोंको नहीं सिखलाते हैं। यह भाव
रखते हैं कि यदि यह सीख जायगा तो मेरी प्रतिष्ठा कम होजायगी।
इसे मात्सर्यभाव कहते हैं। ज्ञानके प्रचारमें, विद्याके साधनमें किसी
प्रकारका अन्तराय डालना, विद्याकी संस्थाको चलने न देना, शास्त्रको

पढ़ने न देना, व मना करना अन्तरायभाव है। ज्ञानियोंको ज्ञानके प्रकाशसे रोकना व इनकी अविनय करना आसादना है। सत्य शास्त्रीय ज्ञानका भी कुयुक्तियोंसे खण्डन करना उपघात है। इस तरहके भावोंके कारण ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्ममें 'विशेष' अनुभाग पड़ता है। इस तरह विकल्पोंके भीतर पुण्यकर्मका आस्रव होता है। ज्ञानी इन विकल्पोंको त्यागता है और निश्चिन्त होकर अपने आत्माकी गुफामें ठहरता है, उपयोगको स्थिर करता है। झटसे स्वानुभवका उदय होजाता है, तब जो परमानंद भोगता है, उसका कथन हो नहीं सकता।

१६—सातावेदनीयका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे बचकर एकांतमें बैठकर भेदविज्ञानकी शरण लेकर स्वानुभवमें रमनेका स्तुत्य प्रयत्न करता है। आत्मा आत्मारूप ही है, आप आप ही है, आपमें आप ही है, परमें आप नहीं है, आपमें पर नहीं है। इस तरहका दीर्घकाल-तक जब मनन किया जाता है तब ही भेदविज्ञानकी शक्ति पुष्ट होती है और जब सम्यग्दर्शनका उदय होता है तब स्वानुभवकी यथार्थ योग्यता प्राप्त होजाती है। सम्यक्तकी प्राप्तिमें जीवादि सात तत्वोंका मनन उपयोगी है। आस्रव तत्वमें ज्ञानी विचारता है कि सातावेद-नीय कर्मका अनुभाग कौन२ भावोंमे अधिक पड़ता है तब उसको झलकता है कि यद्यपि आत्माका स्वभाव कर्तापनेसे रहित है, यह स्वभावसे न शुभ भावोंका कर्ता है न अशुभ भावोंका कर्ता है। यह तो पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयका विकार है जिससे शुभ या अशुभ परिणति होजाती है। इस तत्वसे विचार करते हुए प्रगट होता है कि

जब यह शुद्धोपयोगकी महिमासे बाहर होता है और नीचे लिखे कर्मोंके लिये अपना उद्देश्य रखता है व अभिप्राय पूर्वक उनमें मन, वचन, कायका वर्तन करता है तो उसके उन भावोंके निमित्तसे सातावेदनीयका विशेष अनुभाग पड़ता है।

भूतानुकम्पा-सर्व प्राणीमात्रके ऊपर करुणाका भाव। ऐसा भाव कि जगतके प्राणियोंका कष्ट निवारण हो। इस भावसे कंपित होकर वह दूसरोंके ऊपर पड़ती हुई पीड़ाको अपनेपर पड़ती हुई पीड़ा मानता है और अपनी शक्तिभर स्वयं या दूसरोंके द्वारा प्राणियोंके कष्ट निवारणमें पुरुषार्थ करता है।

व्रती अनुकम्पा-जो अहिंसादि व्रतोंके एक देश व सर्व-देश पालक हैं, उनपर विशेष दयाभाव रखता है। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति उसको विशेष प्रेरित करती है कि उनका कष्ट निवारण किया जावे।

दान-इसीलिये वह धर्मके पात्रोंको भक्तिपूर्वक व जगतके सर्व प्राणियोंको दयापूर्वक आहार, औषधि अभय व विद्यादान करता है।

सराग संयम-मुनिव्रत पालते हुए जितने अंश धर्मानुराग होता है।

संयमासंयम-श्रावक धर्म पालते हुए जो धर्मानुराग होता है उससे यह भव्यजीव परोपकारमें सदा दत्तचित्त रहता है। आत्म-ज्ञान रहित मंदकषाय सहित वैराग्यपूर्ण तप करते हुए व कष्टोंके पड़-नेपर समतासे सहते हुए अर्थात् बाल तप व अकाम निर्जरा करते हुए भी साताका बन्ध करता है।

ध्यान करते हुए, उत्तम क्षमा पालते हुए, सन्तोष रखते हुए जितने अंशमें शुभ भाव होते हैं उनसे सातावेदनीयका बन्ध होता है। इस आस्रव तत्वकी कल्पनाके करते हुए भी आस्रव और बन्ध ही होता है। ऐसा समझकर ज्ञानी जीव व्यवहार मार्गसे पराङ्मुख होता है और निश्चय धर्मकी तरफ सन्मुख होकर अपने आत्माके रमणीक आनन्दसागरमें जाता है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे बाहर होकर अपने उपयोगको उसीमें डुबाता है, उसीमें स्नान करता है, उसीका अनुपम जल पीता है, उसीमें तृप्ति पाता है, तब जिस दशाको अनुभव करता है उसे ही स्वानुभव कहते हैं और यह दशा परमात्म दशासे किसी भी तरह कम सुखप्रद नहीं है।

१७-असातावेदनीयका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्प त्यागकर एकांतमें बैठकर भेदविज्ञानके प्रतापसे अपने आपको यथार्थ द्रव्यरूप ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी परम पुरुष वीतराग निर्विकार अनुभव करता है तब उसको शुद्ध निराकुल आनन्दका स्वाद आता है। उसके अनुभवमें आत्माकी विभाव दशाएं नहीं आती हैं। क्योंकि उसका लक्ष्य सिद्धसम शुद्ध आत्मा ही पर रहता है। परन्तु यह स्वानुभव उसी ही महात्माको होता है जिसके अंतरंगमें सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यका प्रकाश होगया है, मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायका अंधकार मिटगया है।

इस अन्धकार मेटनेका उपाय भी भेदविज्ञान है। जहां आत्माको अनात्मासे भिन्न२ भावना रूपसे विचारा जाता है उसी ही तरह जिसतरह भूसीसे चावल, भूसीसे तैल व छिलकेसे दाल,

घानीसे दूध, काष्टसे अग्नि, पानीसे चिकनई भिन्न२ विचारी जाती है, तब भेदविज्ञानकी भावना कही जाती है। क्या२ अनात्मा है व क्या२ आत्मा है इस तत्वज्ञानके लिये सात तत्वोंका विचार कार्यकारी है। आस्रव तत्वके विचारमें यह विचारता है कि असाता वेदनीय कर्मका बन्ध होते हुए अनुभाग किन२ भावोंसे अधिक पड़ता है। जहां स्वयं दुःखी भाव किये जावें, दूसरेको दुःखित कर दिया जावे या स्वयं भी दुःखी हो और दूसरेको भी दुःखी किया जावे, जहां स्वयं शोकमें भरा जावे, दूसरेको शोकित किया जावे या स्वयं भी शोकाकुल हुआ जावे और दूसरेको भी शोक गर्भित कर दिया जावे, जहां किसी प्रकार हानि या अपमान होनेपर स्वयं ताप किया जावे, दूसरेको तप्तायमान किया जावे या स्वयं भी पश्चात्ताप हो और दूसरेको भी पश्चात्तापमें डाला जावे, जहां किसी कारणसे स्वयं रुदन किया जावे, दूसरेको रुलाया जावे या स्वयं भी रुदन करे व दूसरेको भी अश्रुपातके वश किया जावे, जहां स्वयं अपघात व पीड़ित किया जावे, दूसरेको घात या पीड़ा दीजावे या स्वयं भी घात या पीड़ित किया जावे और दूसरेको भी घात या पीड़ित किया जावे, जहां स्वयं ही दूसरेको करुणा उत्पन्न करानेके भावसे परिदेवन या रुदन किया जावे, दूसरेको परिदेवन कराया जावे या स्वयं भी परिदेवन करे व दूसरेको भी करावे। जहां किसी प्रकार भी अपने परिणामोंमें कलुषित, मलीन, आकुलित, क्षोभित, पीड़ित भाव किये जावें, या दूसरेके भाव कलुषित, पीड़ित, मलीन, आकुलित व क्षोभित किये जावें या आप व पर दोनों ही कलुषित भावोंमें सने हों वहांपर असाता

वेदनीय कर्मका विशेष अनुभाग बन्ध पड़ता है। इस तरह विचार करनेसे असाता वेदनीय कर्मके बन्धकारक भावोंसे ग्लानि होजाती है, अबन्ध अवस्थासे प्रेम पैदा होता है, तथापि यह विचार एक प्रकारका डावांडोल उपयोगका परिणमन है, जो बन्ध हीका कारण है। जब कोई ज्ञानी इन सर्व विचारोंको तथा सर्व ही मन, वचन, कायकी क्रियाओंको बुद्धिपूर्वक निरोध करके अपने अनात्माके द्रव्यमें उसे भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे भिन्न जानकर व श्रद्धानकर उसी ही ज्ञान श्रद्धानमें उपयुक्त होजाता है, लीन होजाता है, तन्मय होजाता है, एकाग्र होजाता है, एकतान होजाता है, मग्न होजाता है व उसी ही निज आत्माके उपवनमें रमण करने लग जाता है, अन्य सर्वसे उदासीन होजाता है तब निजका साक्षात्कार होते हुए जो परमानन्दका स्वाद आता है वह वचन व मनके विचारसे अगोचर केवल अनुभव-गम्य ही है। वही स्वानुभव है। वही आपसे आपका उपभोग है।

१८-दर्शनमोहनीय कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक सुख-समुद्रमें भरे हुए अमृत-रसका पान करनेके लिये अपनी परिणतिको सर्व ही अपने आत्माके मूल द्रव्य स्वभावसे भिन्न आत्मा व अनात्मा द्रव्योंसे, उनके गुणोंसे, उनकी पर्यायोंसे उन्मुख करता है। और सूक्ष्म भेदविज्ञानके प्रताप‌से सर्व परसे मुक्त होकर स्वात्म संवेदनमें आरूढ़ होजाता है। स्वानुभव पाकर परम तृप्तता पाता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है व स्वानुभव ही मोक्ष है।

इन स्वानुभवका लाभ वास्तवमें सम्यग्दृष्टी हीको होता है। मिथ्यादृष्टिकी पहुंच आत्मतत्वकी सूक्ष्मतापर नहीं होती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन गुण आत्माहीका गुण स्वभाव है । तथापि अनादि कालीन कर्म प्रवाहके संस्कारसे अनंतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्मके उदयसे वह स्वभाव विभाव रूपमें परिणमन कर रहा है । इस विभावता मिटानेका उपाय भेदविज्ञानका मनन है । आत्मा व अनात्माका भिन्न २ विचार है । जिसके लिये जीवादि सात तत्वोंपर दृढ़ श्रद्धानकी आवश्यक्ता है । एक सम्यक्त प्रेमी आस्रव तत्वका विचार करते हुए जिन भावोंसे मोहनीय कर्मका विशेष अनुभाग पड़ता है उन भावोंके चिन्तवनमें रहकर यह सोचता है कि सत्यको असत्य कहना अवर्णवाद है-झूठी निन्दा है । ऐसा करना उचित नहीं है । इसलिये वह केवली अरहंत, जिनवाणी, मुनिसंघ व श्रावक संघ व जिनधर्म व चार प्रकारके देव इनकी निन्दा नहीं करता है । वह जानता है कि केवली सर्वज्ञ वीतराग परम हितोपदेशी होते हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, चार घातीय कर्मोंसे रहित हैं ।

अतएव नौ केवल लब्धियोंके-क्षायिक भावोंके अधिपति हैं । उनमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक परम यथाख्यात चारित्र, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य ये नौ भाव विद्यमान हैं । वे स्वरूपमग्न रहते हैं । उनके भावोंमें कोई आकुलता, कोई चिन्ता, कोई रागद्वेषकी कालिमा, कोई भूख प्यासकी बाधा नहीं पैदा होती है । उनमें अनन्त बल है, आत्म निर्मलताकी वेदना उनको नहीं होती । उनके शरीरको पोषणकारी नौ कर्मवर्गणाएं उनके शरीरमें उसी तरह मिलती रहती

हैं, जैसे पृथ्वीकायिक व वनस्पतिकायिक प्राणियोंके शरीरको पुष्टि-कारक वर्गणायें आकर्षित होकर लेशाहारके रूपमें मिलती रहती हैं। उनके कर्मोदयकी अबुद्धिपूर्वक प्रेरणासे ही उपदेश या विहार होता है। उनकी परम शांति कोसों तकके जीवोंको शांतिप्रदान करती है, उनके सन्मुख वैर विरोधी जीव भी वैर छोड देते हैं। उनकी शांत मुद्रा देखकर परिणाम वीतराग होजाते हैं, उन्हींकी वाणी व उसके अनुसार ऋषिप्रणीत आगम ही श्रुति है, आदरणीय है।

उस श्रुतके अनुसार चलनेवाले सर्वदेश मुनि महाराज हैं। एक देश आर्यिका, श्रावक, व श्राविकाएं हैं। उनका उपदेश किया हुआ धर्म स्वपर हितकारक है। आत्माको सुख शांति देनेवाला व आत्माको शुद्ध करनेवाला है। पुण्योदयसे देवगतिमें प्राप्त जीव कभी मांस, मद्य नहीं खाते। उनके मन सम्बन्धी ही आहार है। वे बहुत रूपवान होते हैं। व्यवहारमें सर्व ही जिन-मंदिरमें जाकर जिन भक्ति करते हैं। इसतरह श्रद्धा रखता हुआ वह कभी इनकी निंदा नहीं करता है। इनकी निंदा करना सत्यका तिरस्कार करके दर्शन मोहनीय कर्मका विशेष बंध करना है। इस-तरहके विचारसे पुण्य बंध होता जान एक ज्ञानी मन, वचन, काय तीनोंको स्थिर करता है और तीनोंको पौद्गलीक पर जानकर तीनोंको छोडकर अपने उपयोगको उद्योग करके आपमें ही रमाता है। बस, यकायक स्वानुभवको झलकाकर परम सुख—शांतिका अनुपम भोग प्राप्त कर लेता है।

१९—चारित्रमोहनीय कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी तत्वप्रेमी स्वानुभवकी गुफामें प्रवेश करनेके लिये

नगर व ग्रामकी वस्ती रूपी सर्व पर आत्म व अनात्मभावोंसे अपनेको दूर करता है और परम एकाग्र होकर अपने ही भीतर तीन गुप्तिमय कपाटोंसे सुरक्षित स्वानुभव गुफामें तिष्ठ जाता है। तब जो आनन्द पाता है वह सिद्धोंके सुखसे किसी तरह कम नहीं है।

परन्तु इस गुफामें जानेका उत्साह सम्यग्दृष्टी महात्माको ही होता है। सम्यक्तकी ज्योतिके प्रकाशके विना स्वानुभवकी गुफाका दर्शन ही नहीं होता। प्रवेश करना तो दूर ही रहो।

वास्तवमें जीवादि सात तत्वोंके मननसे सम्यक्त गुण प्रकाशमें आ-जाता है। करणलब्धिके परिणामोंके बलसे बाधक कारण मिट जाते हैं।

आस्रव तत्वका विचार करते हुए ज्ञानी चारित्र मोहनीयके अधिक अनुभागके कारणोंपर दृष्टिपात करता है तो विदित होता है कि कषायोंके उदयसे जो तीव्र भाव होते हैं वे ही कषायोंके बंधनमें विशेष कारण हैं। किन्हींकी ऐसी आदत पड़ जाती है कि जरा जरासी बातमें स्वयम् भी क्रोधादि कषाययुक्त होजाते हैं व दूसरोंके भीतर भी कषाय उत्पन्न कर देते हैं।

तपस्वीजनोंके चारित्रको कषायसे दोष लगाते हैं, या स्वयं तपस्वी होकर चारित्रको सदोषी पालते हुए मैं तपस्वी इस अहंकारके अश्वपर आरूढ रहते हैं, कषायके कारण संक्लेश भावोंसे किसी कारण नाराज होकर गृहत्यागी होजाते हैं, क्रोधके वशीभूत होकर परका बुरा विचारते हैं। मारन–ताड़नके यंत्र मंत्र करते हैं। मानके वशीभूत होकर अपनी प्रतिष्ठा व परका अपमान चाहते हैं व ऐसा उद्यम करते हैं। मायाके वशमें पड़कर अनेक प्रकारके उपायोंसे परके

मनको वशीभूत करके अपना स्वार्थसाधन करते हैं। लोभाकुलित होकर पांचों इन्द्रियोंके विषयोंकी तृप्तिके लिये अन्याय द्वारा परको त्रास देकर भी स्वार्थका साधन करते हैं। ये भाव चार कषायके बन्धके कारण हैं, साधर्मी भाई बहिन व अति दीन दुःखी मानवोंकी हँसी उड़ाते हैं। बहुत बकवाद करके अट्टहास करते हुए समयका नाश करते हैं। नानाप्रकारके खेल तमाशोंमें आप लगते हैं, दूसरोंको लगाते हैं व्रत व शील पालनसे अरुचि करते व कराते हैं। दूसरोंका मन किसीकी तरफसे खट्टा करा देते हैं। व उनकी आरामकी चीजोंमें अन्तराय डाल देते हैं। व पुण्य कामोंसे छुड़ाकर पाप कार्योंमें प्रेरित करते हैं। स्वयं शोकित होकर उदास रहते हैं, परको भी शोकित करते हैं। शोकित होते देखकर आनंद मानते हैं। निरंतर भयभीत रहते हैं व दूसरोंको भयवान बना देते हैं। धर्माचार व शुभाचारसे घृणा करके मायाचारसे प्रीति रखते हैं। दूसरोंके छिद्र ढूंढ़ते हैं, कामभावकी अति तीव्रता रखते हैं। ये भाव स्त्री वेदके कारण हैं। क्रोध, मानकी मन्दता व स्वस्त्रीमें सन्तोष व कामभावकी अल्प रुचि पुरुष वेदका कारण है। तीव्र कामभाव, गुप्त इन्द्रियका छेदन, परस्त्री आलिंगन व आसक्ति आदि बहुत भारी कामवासनासे नपुंसक वेदका अनुभाग पड़ता है। इस तरह चारित्र मोहनीयके कारण भावोंको विचार कर जो उनसे बचते हैं, वे मोह शत्रुकी सेनाके आक्रमणसे अपनी रक्षा करते हैं।

यह सब विचार भी बन्ध हीका कारण है। अतएव ज्ञानी महात्मा इस संकल्प विकल्प रूप सर्व प्रकारकी मनकी चंचलताको स्वरूपाशक्तिमें बाधक समझ कर मनसे अतीत होजाता है। निश्चय

व व्यवहार दोनों नयोंका विचार छोड़ देता है। केवल अपने उपयोगको अपने ही शुद्ध आत्मद्रव्यमें प्रवेश कराता है। स्वभूमिमें प्रवेश करके निश्चित विश्राम करना ही स्वानुभव है। जो इस अमृतसागरको पाजाते हैं वे इसी रसको पीते हुए मगन रहते हैं।

२०-आयु कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी महात्मा जल और दुग्धके समान आत्मा और अनात्माका मेल होते हुए भी हंसके समान जल और दूधवत् आत्मा तथा अनात्माका पृथक्करण बुद्धिबलसे विचार कर अनात्मासे सर्वथा उदासीन होजाता है। अपने ही आत्मामें भ्रमर जैसे कमलमें आसक्त होजाता है वैसे आसक्त होकर विश्राम कर लेता है और जैसे भ्रमर सुगन्धके मोहमें ऐसा तन्मय होजाता है कि सन्ध्या समय कमल बन्द होगा, मेरा मरण होजायगा, इस शंकाको भी अपने भीतर नहीं लाता है, उसीतरह ज्ञानी सर्व मन, वचन, कायकी चेष्टाओंको परित्याग करके आत्मरसमें मग्न होजाता है। यही स्वानुभव है। यही मोक्षमार्ग है। इसीका सेवन सर्व ही मोक्षपथके पथिक करते रहते हैं। इसके सिवाय और कोई मोक्षमार्ग नहीं है, और कोई आनन्द मार्ग नहीं है, और कोई आत्म कर्तव्य नहीं है, परन्तु इस आत्मरसका पान उसी महात्माको होता है जिसके अंतरंगमें सम्यग्दर्शनकी ज्योतिका प्रकाश जाज्वल्यमान होजाता है। जिसको यह लोक छः द्रव्यमय होते हुए भी अपने स्वभावमें नजर आता है।

सम्यग्दर्शनके शत्रुओंपर विजय पानेके लिये आवश्यक है कि सात तत्वोंका मनन किया जावे। आस्रव तत्वका विचार करते

हुये आयु कर्मके बंधमें किस तरह अधिक अनुभाग पड़ता है; कौनर भावोंमें कौनर सी आयु बंधती है इस बातका विचार करना मननकर्ताका कर्तव्य है। जिससे प्राणियोंको पीड़ा पहुंचे उसे आरम्भ कहते हैं। यह मेरा है ऐसी मूर्छाको परिग्रह कहते हैं। जहां न्याय पथको उलंघन करके बहुत आरम्भ किया जावे, बहुत ममत्व किया जावे, ऐसा कि जिससे धर्माचरणकी रंचमात्र परवाह न की जावे, मिथ्यात्वका पालन भी करले व हिंसादि पांचों पापोंको घोर तीव्रताके साथ करने लगजावे। परके नाशका, परके धन हरणका, मृषा बोलकर ठगनेका, तीव्र विषयोंकी गृद्धिका, कृष्णलेश्या जनित रौद्रध्यानका भाव निरंतर रखा जावे। पाप कार्योंके लिये धनका व्यय करे, धर्मकार्यमें कृपणता बतावे, मानके वश हो दुःखितों व अनाथोंकी तरफ भी क्रूर भाव रखे, इत्यादि तीव्र निन्दनीय सात व्यसनोंके सेवनसे नरकायुका बंध पड़ जाता है। तीव्र कुटिल परिणाम रखनेसे, परको ठगनेके भावसे, मिथ्यात्व सहित उपदेश करनेसे, शीलभाव नहीं पालनेसे, चुगली करनेके भावोंसे, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन व निदान सम्बंधी आर्तध्यानसे व नील व कपोतलेश्याके परिणामोंसे तिर्यंचायुका बन्ध पड़ जाता है। सन्तोषपूर्वक अल्प आरम्भ व अल्प परिग्रहसे, विनयरूप स्वभावसे, मन्द कषायसे, न्यायपूर्वक वर्तनसे, भद्रताके व्यवहारसे मनुष्यायुका आस्रव होजाता है। शांतिपूर्वक बंध वध भूख प्यासादि उपसर्गोंको सहन करनेसे, साधुका व देशव्रतीका सराग संयम पालनेसे, वैराग्य सहित परन्तु कदाचित् आत्मज्ञान रहित कायक्लेशरूप तप करनेसे

देवायुका तथा सम्यग्दर्शन अकेलेके होते हुए या सम्यक्त सहित श्रावक व मुनिव्रत पालते हुए विशेष देवायुका आस्रव होता है। पीत, पद्म, शुक्ललेश्याके धारी तिर्यंच तथा मानव देवायुको बांध लेते हैं। आयुकर्म एक प्रकारकी बेड़ी है, इसकी स्थितिके अनुसार इस संसारी जीवको किसी भवके जेलखानेमें रहना पड़ता है।

इस तरह चारों आयु न बन्ध सके इसका उपाय उच्च शुक्लध्यान है जो अपूर्वकरण गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। ज्ञानी ऐसी भावना करता हुआ भी खेद है कि बहुत अंशमें बन्धके कारणीभूत इन विचारमालाओंको मनसे उतारकर पटक देता है और शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे अपने ही आत्माको शुद्ध देखने लगता है। वैसे ही पर आत्माओंको भी शुद्ध देखने लगता है। तब न कोई बन्धु, न कोई अबंधु नजर आता है। यकायक साम्यभावका प्रवाह भावोंमें बहने लग जाता है। तब वह निश्चल होकर एक अपने ही आत्माके स्वाद लेनेके लिये आत्मामें ही एकाग्र हो जाता है। उपयोगका भ्रमण पांच इन्द्रियोंके व मनके विषयोंमें नहीं कराता है। छहों आयतनोंसे उसे निरोधकर उसे आत्मामें ही उसी तरह घुला देता है जैसे खारे पानीमें निमककी डली घुल जाती है। यही स्वानुभव है। इसके उदय होनेसे यह जिस आनन्दका भोग करता है वह अनुभवगम्य ही है।

२१–नामकर्मका विशेष आस्रव।

एक ज्ञानी महात्मा स्वात्मरस पानका प्रेमी यह निश्चय करके कि स्वानुभवके गर्भसे ही स्वात्मरस सुधाका उत्पाद होता है, स्वानु-

भवके लाभके लिये उद्यम करता है, भेदविज्ञानकी धूनी रमाता है। स्वपरको बड़ी सूक्ष्मतासे भिन्न २ देखता है। आत्माका तत्व आत्मामें, अनात्माका तत्व अनात्मामें धर देता है। तब अनात्मासे उन्मुख हो, आत्माके तत्वमें लुब्ध हो मगन होजाता है, झटसे स्वानुभवको पालेता है, परन्तु इस तत्वकी कश्चिकी कला उसी महात्माके हाथमें आती है जो सम्यग्दर्शन रत्नको अपने भीतर झलका चुकता है। इस सम्यक्तका प्रकाश उसीको होता है जो सात तत्वोंके भावोंको जान कर मनन करता है। आस्रव तत्वमें विचार करते हुए यह जीव नाम कर्मका विशेष बंध किन भावोंसे करता है उनपर ध्यान दिये जानेसे प्रगट होता है कि मन, बचन, कायकी कुटिलतासे तथा परस्पर झगड़ा व लडाई करनेसे जो अपने शरीरकी आकृति बुरी व बेडोल बन जाती है उसीके साथ भावोंकी भी कुटिलता होती है, उसी समय अशुभ नाम कर्मका बंध होजाता है जिसके फलसे शरीर अशुभ व बदसूरत प्राप्त होगा।

यदि हम मन, वचन, कायको सरल रखेंगे और प्रेम व एकतासे वरतेंगे, झगड़ा टण्टा न करेंगे, मन, वचन, कायकी सरलताके कारण व शुभ आकृति रखनेके कारण व भावोंमें भी सरलताके कारण हम शुभ नामकर्मको बांध लेते हैं, जिसका विपाक सुन्दर शरीरको प्राप्त करना होगा। तीर्थंकर नामकर्म एक महान कर्म है। जो प्राणीको पूजनीय तीर्थंकरका पद दिलाता है उसका बन्ध प्रसिद्ध षोडशकारण भावनाओंसे होता है। उनको इस तरह भाना चाहिये—

(१) हमारी आत्मश्रद्धा निर्दोष रहे। हम सम्यक्तके आठ अंगोंको पालकर जिनधर्मका महात्म्य जगतमें प्रकाश करें। (२) हम मोक्षमार्गकी गाढ भक्ति करें व पुज्यनीय पुरुषोंकी विनय करें। (३) हम शील व व्रतोंके पालनमें अतीचार न लगाकर उनको परम भक्तिसे निर्दोष पालन करें। (४) हम तत्वज्ञानका व आत्म मननका नित्य अभ्यास रक्खें। (५) हम संसार शरीर भोगोंसे उदास रहकर मोक्ष व मोक्षमार्गमें परम प्रीति करें। (६) हम अपनी शक्तिको न छिपाकर आहार औषधि अभय व ज्ञानदान करें। पात्रोंको भक्तिपूर्वक व दुखितोंको करुणाभावसे देवें।। (७) हम शक्तिको न छिपाकर उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शैयासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यानका अभ्यास करें। (८) हम साधुओंके उपसर्गका निवारण करें। (९) हम सेवा धर्मको पालें। (१०) हम श्री अर्हं-तकी सच्ची भक्ति करें। (११) हम श्री आचार्यकी सेवा करें। (१२) हम श्री उपाध्यायकी संगतिसे ज्ञान प्राप्त करें। (१३) हम श्री शास्त्रकी सच्ची भक्ति करें। (१४) हम आवश्यक नित्य कर्मोंको न त्यागें। (१५) हम श्री जिनधर्मकी प्रभावना करें। (१६) हम साधर्मी भाइयोंसे वात्सल्य भाव रक्खें।

यह मनन यद्यपि तत्वश्रद्धानके लिये आवश्यक है तथापि बन्धका कारण है। अतएव एक ज्ञाता इस विचारको बन्द करके जहां न नाम है न स्थापना है, न द्रव्य है न भाव है, न प्रमाण है न नय है, न कोई कहनेयोग्य वस्तु है, उस अवक्तव्य तत्वमें मौन-

अंतके साथ एकाग्र हो तन्मय होजाता है। स्वानुभवका भाव झलका कर परम रस गर्भित आनंदका स्वाद पाता है और सच्चे मोक्षमार्गमें चलता हुआ मोक्षका पथिक होजाता है।

२२-गोत्र व अन्तराय कर्मका विशेषास्रव।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक स्वादका प्रेमी होकर इस स्वादके लेनेके लिये अपने उपयोगको सर्व परद्रव्योंसे हटाता है। और श्रद्धा व ज्ञानद्वारा समझे हुए अपने ही शुद्ध आत्माकी भूमिकामें अपने उपयोगको जमा देता है। उपयोगका उपयोगवान आत्मामें स्थिर होजाना ही स्वानुभव है। इसका मूल कारण भेदविज्ञान है। भेद-विज्ञानकी दृष्टिसे निज आत्मा स्वस्वभावमें झलकने लगता है। जो कुछ इसके साथ पुद्गलका सम्बंध है व उस सम्बन्धमें जो कुछ विकार होता है वह आत्माका निज तत्व नहीं है। यही ज्ञान दृढ-तासे होना ही भेदविज्ञान है। जिस किसी महात्माके भीतर अन्त-रात्मपना उदय होगया है अर्थात् जहां सम्यग्दृष्टिका प्रकाश होकर मिथ्यादृष्टिका तम विघट गया है वही भेदविज्ञानकी कलाका स्वामी होजाता है।

सम्यग्दर्शनका उदय अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मके उदयके अभाव विना नहीं होसक्ता है। इनके उदयको मिटानेके लिये यह आवश्यक है कि तत्वका दृढ़तापूर्वक मनन किया जावे। आत्मा अनात्माके भिन्न२ विचारका वारवार अभ्यास किया जावे। इस कार्यकी सिद्धिके लिये जीवादि ७ तत्वोंपर दृढ़ श्रद्धानकी आवश्यक्ता है। अतएव एक साधक आस्रव तत्वके विचारमें मनन

करता है कि गोत्रकर्मके बन्धमें क्या २ विशेष कारण है । परकी निन्दा करके प्रसन्न होना, परकी निन्दा सुनके राजी होना, अपनी प्रशंसा स्वयं करना, अपनी प्रशंसा सुनके राजी होना, अपने न होते हुए गुणोंका प्रकाश करना, दूसरोंके होते हुए गुणोंपर भी परदा डाल देना, अपनी उच्चता चाहना, परकी नीचता इच्छना, नीच गोत्रके आस्रवके कारण हैं । तथा अपनेमें गुण होते हुए भी अपनी निंदा करना, दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना, दूसरोंकी महिमा गाना, अपनेमें होते हुए गुणोंको भी ढकना, जो गुणोंमें उत्कृष्ट हों उनके साथ बड़ी भक्ति व विनयसे व्यवहार करना । आप ज्ञानादिमें महान भी हो तौभी मद न करके उद्धत भावसे न वर्तना, उच्च गोत्रके बंधके कारण भाव हैं । अंतराय कर्म पांच प्रकारका है । कोई दान करता हो तो उसके दान होनेमें विघ्न कर देना दानांतरायका कारणभाव है । किसीको द्रव्यादिका लाभ होता हो तो उसके लाभ होनेमें विघ्न डाल देना लाभांतरायके बंधका कारण है । किसीके पास भोग सामग्री है, उसको वह भोग न सके ऐसी मन वचन कायकी चेष्टा करना भोगांतरायका कारण है । वार वार भोगने योग्य वस्त्राभूषणादिको कोई भोग न कर सके ऐसा भाव करना उपभोगांतरायके आस्रवका कारण है । किसीने शुभ कार्योंके लिये अपना उत्साह प्रगट किया उसके उत्साहको किसी भी तरह भंग कर देना वीर्यांतरायके आस्रवका कारण है । दूसरोंकी उन्नतिमें बाधक होना अंतराय कर्मका बंध करना है ।

इस तरह विचार करनेसे संकल्प विकल्प होता है, शुभ उपयोग होता है, जो कर्मके बन्धका ही कारण है ।

अतएव ज्ञानी जीव अपने उपयोगको इन पुण्यबंधके कारण भावोंसे भी निरोध करता है और एक ऐसी भूमिकामें जाता है जहां न शुभ भाव हैं न अशुभ भाव हैं, उनको शुद्धोपयोगी भूमिका कहते हैं।

यह भूमिका वैराग्य रससे अति पवित्र होरही है। यहां आत्मज्ञानकी चमक फैल रही है। इस भूमिकामें विश्राम करनेसे सर्व आकुलताएं मिट जाती हैं, कषाय कालिमाका विकार नहीं उठता है। शुद्धोपयोगकी भूमिकामें तिष्ठना ही वास्तवमें स्वानुभव है। ये मन वचन काय रात्रि दिन कभी शुभमें व कभी अशुभमें दौड़ा करते हैं। उनकी इस घुड़दौड़को रोककर उनको ज्ञान वैराग्यके खूंटेसे बांध देना उचित है जिससे उनका निरोध होजावे तब उपयोगको छुट्टी मिले। उसको तब स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रियोंकी तथा नोइन्द्रिय मनकी गुलामी न करनी पड़े। वह स्वतंत्र होजावे, शुद्ध होजावे, निर्विकार होजावे। ऐसी दशामें उपयोग अपने ही घरमें विश्रांति लेता है। अपने ही आत्मा स्वामीकी सेवा करता है। अपने ही आत्मा स्वामीके अद्भुत रूपका अवलोकन करता है। उसकी महिमामें एकतान होजाता है अर्थात् स्वानुभवका प्रकाश करता है। तब अनिर्वचनीय सुधाका प्रवाह जो वहता है उसको पानकर परम तृप्ति लाभ करता है।

२३–बन्ध तत्व विचार।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक आनन्दका प्रेमी होकर उस वस्तुकी खोजमें है, जहां वह आनंद होसके। तीन लोकके जड़ आदि

अजीव पदार्थोंके भीतर देखता है तो उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण व गति, स्थिति, अवकाश व परिवर्तन हेतुपना आदि गुण तो है परन्तु आनंद गुण नहीं है। आनंदको अनुभव करनेवाला यदि न हो तो पर पदार्थके आश्रय भी आनंदका लाभ नहीं हो। यह प्राणी जब रागभाव सहित किसी पदार्थका भोग करता है तब उसको जो सुख अनुभवमें होता है वह सुख अपने ही भीतरसे प्रगट होता है। भोग्य पदार्थोंमें सुख नहीं है। उन पदार्थोंको भोग करते हुए. राग-भावसे लिप्तता रखनेसे सुख अपने ही भीतरसे प्रगट होजाता है। यदि भोग्य पदार्थमें सुख हो तो एक उस मानवको जो उस अमुक भोग्य पदार्थसे राग नहीं रखता है, वह भोग्य पदार्थ भोगनेको दिया जावे तो वह रागभावकी लिप्तताके न होनेसे सुखका अनुभव नहीं कर सकेगा। यदि पदार्थमें सुख होता तो सबको ही सुख भासता, परन्तु ऐसा नहीं है। रागीको सुख भासता है, विरागी व उदासीनको व शोकातुरको नहीं भासता है।

जैसे श्वान हड्डी चबाता है तब उसकी डाढ़से खून निकलता है, उसीको पीकर वह ऐसा मानता है कि हड्डीका यह स्वाद है, उसी तरह सुख तो अपने ही भीतरसे उठा है। परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मान लेता है कि पर पदार्थसे सुख मिला है। रागभावसे भोगा हुआ वैषयिक सुख, सुख गुणका विभाव परिणमन है। जैसे—रागद्वेष मोह चारित्र गुणका विभाव परिणमन है। विभाव परिणमन खारे पानीके स्वादके समान तृप्तिकारी नहीं होता है। विषयके संसर्गरहित यदि स्वाभाविक आत्मीक सुखको भोगा जावे तो निर्मल

पानीके समान असली सुखका स्वाद देता है व तृप्ति प्रदान करता है। वास्तवमें आत्मामें ही सुख गुण है और वह स्वानुभवसे प्राप्त होता है। इस बातका पता एक सम्यग्दृष्टी अंतरात्माको ही होता है। इसलिये हरएक प्राणीको सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये। इसका व्यवहार साधन सात तत्वोंका ज्ञान प्राप्त करके मनन करना है। सात तत्वोंके विचारमें आस्रवका स्वरूप कहा जा चुका है। बंध तत्वको अब विचारता है। कर्म्मवर्गणाओंका आकर आत्माके प्रदेशोंमें ठहर जानेको बंध कहते हैं। जैसे आकाशमें मेघ छा-जाता है, धूम्र छा जाता है वैसे ही आत्माके प्रदेशोंमें कर्म्मवर्गणाएँ छा जाती हैं। जैसे मेघ आकाशको जकड़ लेते हैं वैसे कर्म-वर्गणाएं आत्माको जकड़ लेती हैं। यह बंध आत्माके विभाव परि-णमनकेद्वारा होता है। स्वभावसे आत्माके बंध हो नहीं सक्ता। जैसे कर्मोंके आस्रवमें योग और कषाय कारण हैं वैसे कर्मोंके बंधमें योग और कषाय कारण हैं। आस्रव और बंधका कारण एक ही है, कार्य दो हैं। प्रकृति और प्रदेश बंध योगोंसे व स्थिति तथा अनुभाग बंध कषायोंसे होते हैं। कर्मोंमें स्वभाव पड़ना कि यह ज्ञान ढकेंगे या मोह पैदा करेंगे यह प्रकृति है। कितनी संख्या कर्म पुद्गलोंकी बंधी सो प्रदेश बंध है। कितने कालतकके लिये उनका आत्माके प्रदेशोंके साथ सम्बंध रहेगा ऐसी मर्यादाका नियम सो स्थितिबंध है। उन संचित कर्मोंमें तीव्र या मंद फल दान शक्ति पड़ना अनुभाग बंध होता है। अतएव तत्वज्ञानी इस बंध पद्धतिसे मुख मोड़ अबंध व असंग एक निज आत्माकी तरफ झुकता

है । व सर्वसे उन्मुख हो आत्माके भीतर उसी तरह मग्न होजाता है जैसे गंगामें डुबकी लगाई जावे । डुबकीका लगाना ही स्वानुभव है । बस, इस कलाके जागृत होते ही जो अपूर्व व अद्भुत आनन्द प्रगट होता है वह वचन अगोचर है ।

२४—बन्धतत्व स्वरूप ।

एक ज्ञाता दृष्टा आत्मा अपनी स्वानुमति तियाके साथ रमण करनेके लिये परम उत्सुक होकर उसके पास पहुंचनेका मार्ग—शोधन करता है । श्री गुरु द्वारा उपदेशित भेदविज्ञानका मार्ग ध्यानमें आजाता है । वस्तु प्राप्तिका साधन भेदविज्ञान है, ऐसा समझकर यह सर्व विचारोंको बन्द कर, भेदविज्ञानका अभ्यास करता है । शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे यह ज्ञानी अपने आत्माको परमात्माके समान शुद्ध जानता है और सूक्ष्म व स्थूल शरीरको व राग, द्वेष, मोहादि विकारी भावोंको पुद्गल कृत विकार समझता है । इन सर्व-परसे हेय बुद्धि धारण कर लेता है । परम साम्य भावसे निज आत्माके शुद्ध स्वरूपमें एकाग्र होजाता है । यही स्वानुभवका लाभ है, यही आत्मशुद्धिका उपाय है, यह स्वात्मानंदके पानका श्रोत है । सच्चा भेदविज्ञान सम्यक्दर्शनके विना प्राप्त नहीं होसकता है । जिस सम्यक्तका प्रकाश अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वके विषके उतरने पर होता है । इस विषके उतारनेका मंत्र स्वपर तत्वका मनन है । यह मनन तब ही होता है जब सात तत्वोंका ज्ञान प्राप्त हो । बंध तत्वके ऊपर एक ज्ञानप्रेमी विचार करता है तब यह समझता है कि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग रूप चार प्रकारका बंध

इस जीवके साथ स्वयं अशुद्ध जीवकी योगशक्ति और कषायोंकी कालिमासे होजाता है। बंध होनेके पश्चात् कर्म कुछ काल तक बिलकुल उदय नहीं आता है, फल नहीं देता है। एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति हो तो कर्मोंको पकनेमें १०० वर्ष लगते हैं। कमसे कम पकनेका काल या आवाधा काल एक आवली है, जो एक पलक मारने मात्र है। इस शरीरका बांधा हुआ पाप या पुण्य कर्म इस शरीरमें भी फल देता है और जबतक इसकी स्थिति पूर्ण न हो तबतक बराबर कई कई भवोंमें फल देता रहता है। कर्मोंका फल निमित्ताधीन है। अनुकूल निमित्तोंमें ही अनुकूल कर्म उदय आकर फल प्रगट करता है। नरकगति, तिर्यंचगतिमें उन ही गतियोंके अनुकूल मनुष्य व देवगतिमें उन ही गतियोंके अनुकूल कर्म उदयमें आकर फल देता है।

जैसे देवोंके उच्चगोत्रका ही उदय होगा, नरक व तिर्यंचोंके नीच गोत्रका ही उदय होगा व मनुष्योंके दोनों ही गोत्रोंका उदय होगा। निमित्त न होनेपर समयपर उदय आनेवाला कर्म विना फल दिये झड़ जाता है। पकनेका प्रथम काल छोड़कर स्थितिका जितना समय होता है उस समयके अनुकूल कर्मकी वर्गणाएं बट जाती हैं। अपने बटवारेके अनुकूल वे अवश्य समय २ गिर पड़ती हैं। यदि हम शुभ निमित्त मिलावें तो बहुतसे पाप कर्मोंके फलसे बच सक्ते हैं। इस तरह बंधकी कथा केवल बंधकी ही करनेवाली है।

अतएव तत्वज्ञानी इस बंध कथासे भी उदास होजाता है व कथाके जालसे रहित व मनके विकल्पोंसे शून्य, काय व्यापारसे रहित

एक निज आत्माके निश्चित शुद्ध स्वरूपमें प्रवेश करता है तब स्वा-
नुभव रूपी उपवनमें प्रवेश कर जो सुख व शांति पाता है उसका
विचार करना भी दुर्लभ है।

२५–संवरतत्व विचार।

एक ज्ञानी सर्व प्रकारके विकल्पोंको त्यागकर यह भावना भाता
है कि मुझे आत्मानन्दका लाभ होजावे। इसलिये भेदविज्ञानके द्वारा
अपने आत्माकी सत्ताको सर्व परकी सत्तासे भिन्न देखता है और
सर्व परसे उदास होकर निजमें अपनी उपयोगकी प्रवृत्तिको रोकता
है। निजमें निजका थंभना ही स्वानुभव है। स्वानुभवके होते हुए
अपूर्व परमानन्दका स्वाद आता है जिसका वर्णन किसी भी तरह
किया नहीं जासक्ता है, परन्तु इस स्वानुभवके अमृतसागरमें उसी
हीका प्रवेश होसक्ता है जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे विभूषित हो।
सम्यग्दर्शन इस आत्माका निजगुण ही है। उसका आच्छादन
अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्मके मैलसे होरहा है। इस
कर्मकालिमाके मिटानेके लिये सात तत्वोंके निरन्तर मनन करनेकी
जरूरत है। संवर तत्वपर विचार करते हुए एक ज्ञानी यह मनन
करता है कि जिन २ मन वचन कायकी क्रियाओंसे आस्रव होता
है उन २ क्रियाओंका निरोध कर देना संवर है। जैसे जिस छिद्रसे
पानी आता हो उस छिद्रको बन्द कर देनेसे पानीका आना रुक
जाता है। आस्रवके कारण पांच भाव हैं। उनके निरोधक भी पांच
भाव हैं। मिथ्यात्व कर्मके असरसे मलीन भावोंके द्वारा जो कर्म आते
हैं वे सम्यग्दर्शनसे उज्वल भावोंके द्वारा रुक जाते हैं। संसार आद-

रणीय है। विषयसुख ग्रहणयोग्य है। यही तो मिथ्यात्व है। संसार त्यागने योग्य है। विषयसुख विष तुल्य है। अतीन्द्रिय आनन्द ही ग्रहण करने योग्य है। यह रुचि सम्यक्त है। मिथ्या रुचिसे आनेवाले पापकर्म सम्यक् रुचिके प्रतापसे रुक जाते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील तथा परिग्रह भावोंमें संलग्न होनेसे जो कर्म आते हैं वे कर्म इन पांच पापोंको त्याग कर देनेसे व अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह भावमें रमण करनेसे निरोध होजाते हैं। प्रमाद भावसे वर्तन करते हुए असावधानीसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करते हुए, रागद्वेषोंमें रमण करते हुए जो पापकर्म आते हैं वे पापकर्म अप्रमादभावमें रमण करते हुए व स्वात्मानंदकी ओर सन्मुख होते हुए रुक जाते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभके द्वारा व हास्य, रति, अरति, शोक, भय, घृणा, व स्त्री वेद, पुंवेद, नपुंसक वेदद्वारा जो भावोंकी कलुषता होती है उससे जो कर्म आते हैं वे कर्म इन कषायोंको निरोध करनेसे तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन, तथा उत्तम ब्रह्मचर्यमें वर्तन करते हुए रुक जाते हैं।

मन, वचन, कायकी क्रियासे जो कर्म आते हैं वे उस क्रियाके विरोधसे रुक जाते हैं। अशुभ मन, वचन, कायकी क्रियासे आनेवाला कर्म शुभ मन वचन कायकी क्रियामें रक्त होनेसे रुक जाता है। शुभ मन, वचन, कायकी क्रियामें रक्त होनेसे जो कर्म आते हैं वे मन, वचन, कायकी गुप्तिमें रमनेसे व निर्विकल्प आत्म-समाधिमें जमनेसे रुक जाते हैं।

कर्मोंको आस्रव करनेवाले भाव अनेक प्रकारके होते हैं। इसलिये उनको संवर करनेवाले भाव भी अनेक प्रकारके होते हैं। संवर तत्वका विचार करनेसे उस ही तरह अपनी रक्षा अकुशल भावोंसे होती है, जिस तरह रक्षाके उपायोंको काममें लेनेसे अपने जानमालकी रक्षा चोर डाकुओंसे व शत्रुओंसे होती है।

इस तरह संवर तत्वके विचारमें उलझनेसे भी संवर नहीं होता है। किन्तु पुण्य कर्मकी मुख्यतासे आस्रव तथा बंध होता है। अतएव विवेकी जीव इन सर्व विचारोंको छोड़ देता है और अपने ही स्वरूपमें एकाग्र होनेके लिये स्याद्वादके द्वारा अपनेको परसे भिन्न जानता है। और पुरुषार्थ करके उपयोगको सर्व परसे थांमकर उसे अपने आत्मामें ही तल्लीन करता है। यह उपयोगकी थिरता ही स्वानुभवकी कला है। इसीको मोक्षमार्ग कहते हैं। यही वह अमृतसागर है जहांपर निमज्जन करते हुए साधकको निरन्तर सुख-शांतिका लाभ होता है और परम सन्तोष प्राप्त होता है।

२६–दशलक्षण धर्म।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके अन्य विचारोंको रोक करके एक निजात्माका ही अनुभव अर्थात् स्वाद लेना चाहता है। क्योंकि जो अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द आत्माके भीतर है वह अन्य किसी भी द्रव्यके भीतर नहीं है। भेदविज्ञानरूपी मित्र सर्व पर पदार्थोंको, पर भावोंको व पर पर्यायोंको बुद्धिके पाससे हटा देता है और केवल एक शुद्ध आत्माको ही सामने लाकर खड़ा कर देता है। उसीके मनोहर व अनुपम रूपमें लगातार टकटकी लगाकर देखना ही

स्वानुभव है। परन्तु यह आत्मीक आनन्द उसी महात्माको मिलता है जिसके भीतर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नका प्रकाश होगया है। उसका प्रकाश उसीको होता है जो मोहनीय कर्मको जीतता है। मोहनीय कर्मके जीतनेका उपाय जीवादि सात तत्वोंका मनन है। संवर तत्वका विचार करते हुए उन भावोंका शरण लेना योग्य है, जिन भावोंसे आत्मा क्रोधादि भावोंसे सुरक्षित होसके। वास्तवमें इस आत्माको बन्धभावमें पटकनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं। इनको क्षीण करनेका उपाय दशलक्षण धर्मका विचार है। कष्ट पानेपर भी क्रोधके स्थानपर सहनशीलता वर्तना, निमित्त कर्तापर रुष्ट न होना उत्तम क्षमा है। विद्या, तप, धन, अधिकार, रूप, बल आदिमें उत्तम व महान होनेपर भी इन क्षणिक पर्यायोंसे उन्मत्त भाव न करके परम मृदु रहना व अपमानित होनेपर भी मान भाव न करना उत्तम मार्दव है। किसी भी स्वार्थकी सिद्धि करनेके हेतुसे किसी भी तरहकी मायाचारी न वर्तन करके मन, वचन, कायके वर्तनको सरल रखना उत्तम आर्जव है। पदार्थका सत्य स्वरूप विचारना व सत्य ही कहना व सत्य मार्गपर चलना, उपसर्ग पड़नेपर भी असत्यका विकल्प न करना उत्तम सत्य है। लोभ भावको जीतकर संसारके पदार्थोंका सम्बन्ध क्षणिक जानकर उनकी तृष्णाको निरोध करके पवित्र भाव रखना उत्तम शौच है। मन व इन्द्रियोंकी चंचलता मेटकर व परम करुणाभाव लाकर आत्माके स्वभावमें भले प्रकार रुकना उत्तम संयम है। उपवासादि तपकेद्वारा आत्माको ध्यान अग्निमें तपाना उत्तम तप है। सर्व मोह त्यागकर

जीवमात्रको अभयभावसे देखना व सबको सुखी होनेका भाव रखना उत्तम त्याग है। किसी भी परसे ममत्व न करके समतामें वर्तना उत्तम आकिंचन है। बाहरी ब्रह्मचर्यकेद्वारा अंतरंग ब्रह्ममें एकतान होना उत्तम ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार दश धर्मोका विचार क्रोधादि कषायोंको जीतता है तथापि स्वानुभवको पैदा नहीं करता है। जो कोई सर्व विचारोंको निरोध कर आपसे ही आपमें आनन्दामृत जलका पान करता है वही स्वानुभवको पाकर स्वतंत्रताका सेवी होजाता है।

२७-बारह भावनाएं।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व अन्य विचारोंको रोककर भेदविज्ञानके प्रतापसे स्वानुभवका अभ्यास करता है। आप जो है सो है, जैसा है वैसा है, आपसे सर्व भिन्न कल्पनाओंको त्यागकर आप आपमें थिर होकर आपका ही स्वाद लेना स्वानुभव है। सम्यक्दर्शनका धारी महात्मा ही इस अपूर्व लाभको प्राप्त कर सक्ता है। इसका प्रकाश तत्वोंके मननसे होगा। संवर तत्वका विचार करते हुए यहां आज द्वादश भावनाओंका विचार किया जाता है जिससे उपादेयकी रुचि व हेयकी अरुचि उत्पन्न हो।

जगतमें सर्व ही बाल, वृद्ध, युवा अवस्था व सर्व नगर, राज्य, मंदिर, भंडार, वस्त्रादिकी अवस्था नाशवन्त है। इसलिये क्षणिक पदार्थमें मोह न प्राप्त करके मूल छः द्रव्योंकी नित्यता व उनकी पर्यायोंकी अनित्यतापर लक्ष्य देना चाहिये। कोई भी प्राणी मरणके चंगुलसे व तीव्र कर्मके उदयसे बच नहीं सक्ता। कर्मोके तीव्र विपा-

कर्में कोई रक्षा नहीं कर सक्ता है। सर्व कोई अशरण है। शरणमें जानेके लिये योग्य एक अपना ही आत्मद्रव्य है या अर्हंतादि पांच-परमेष्ठी हैं। संसार दुःखोंका घर है व असार है, सुखशांतिका विरोधी है। तापादि दुःखोंका कारण है। भव भव भ्रमण जीवको अनिष्टकारी है। इससे संसार त्यागने योग्य है तथा संसारसे रहित मोक्षावस्था ग्रहण करने योग्य है। इस जीवका स्वभाव सर्व अन्य जीवोंसे व पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे भिन्न अपने निज रूपमें है। यह अकेला ही है। अकेला ही इसे भ्रमण करना पड़ता है व अपने पाप या पुण्यका फल अकेले ही भोगना पड़ता है। इस जीवका कोई साथी नहीं है। सर्व ही कुटुम्ब परिवार धन धान्य शरीरादि अन्य अन्य हैं, छूट जानेवाले हैं। न रागादि विभाव जीवके हैं न ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म हैं। यह शरीर महान अशुचि है, नाशवंत है। इसके संयोगसे आत्महित करलेना ही बुद्धिमानका कर्तव्य है। अपने ही मन वचन कायकी शुभ व अशुभ क्रियाओंसे यह जीव स्वयं ही कर्मोंका आस्रव करता है। कर्मोंके मैलका संग्रह योग और कषायोंसे होता है। मन वचन कायके निरोध करनेसे तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके प्रभावसे कर्मोंका आना रुक जाता है। आत्मध्यान पूर्वक वीतरागताके प्रभावसे बहुतसे कर्म बिना फल दिये हुए झड़ जाते हैं।

तीन लोक जीवादि छः द्रव्योंसे भरा है, अनादि अनन्त अकृत्रिम है। यह लोक द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, पर्यायके बदलनेकी अपेक्षा अनित्य है। सम्यग्ज्ञानका लाभ बहुत ही कठिन है। यदि

यह प्राप्त होगया है तो इसे बहुत सम्हालके साथ रखना चाहिये। तथा इसके प्रतापसे आत्माको परमात्मा बना लेना चाहिये। धर्म आत्माका स्वभाव है। धर्म ही उत्तम सुखको देता है व कर्मोंका नाश करनेवाला है। धर्मसे ही जीवका परम हित होता है। इस-प्रकार बारह भावनाओंका विचार करनेसे संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य होता है व अपने आत्मीक स्वभावसे प्रेम बढ़ जाता है। यह बारह भावनाओंका विचार भी बन्ध हीका कारण है। अतएव बन्ध रहित होनेके लिये यह ज्ञानी सर्व प्रकारके भावोंसे अपनेको हटाता है। और एकाकी आत्मीक शुद्ध परिणतिमें अपनेको ठहराता है। आप अपनेमें ही रुक जाना ही स्वानुभव है। यही परमानंदका दाता परम उपादेय निजतत्व है। यही मोक्षमार्ग है व यही मोक्ष है।

२८-सामायिक चारित्र।

एक ज्ञानी आत्मा सर्वप्रकारके विचारोंको रोक करके एक निज आत्माके ही गुण व पर्यायोंका विचार करता हुआ, अपने आत्माको परसे भिन्न समझता हुआ भेदविज्ञानका बारबार अभ्यास करता है। इस अभ्यासके प्रभावसे जब कभी उपयोग स्थिर होता है तब स्वानुभवका प्रकाश हो जाता है, परन्तु इस स्वानुभवका लाभ उसी महात्माको होता है जिसके भीतर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नका झलकाव जीवादि सात तत्वोंके मननसे होता है। संवर तत्व बड़ा ही उपकारी है, यह आते हुए कर्मोंको रोक देता है। संवरका श्रेष्ठ उपाय मन, वचन, कायकी गुप्तिरूप सामायिक है।

रागद्वेष मोहका त्याग होकर समभावका झलकना ही सामा-

यिक है। प्रथम तो मोहको हटाना चाहिये। बुद्धिमान वही है जो सार वस्तुमें प्रेम करे व असारमें मोह न करे। जगतकी सम्पूर्ण अवस्थाएं क्षणभंगुर, बदलनेवाली तथा असार हैं। नगरका श्मशान होता है, श्मशानका नगर होता है। बालकसे युवा व युवासे वृद्ध होता है। निरोगी रोगी होजाता है। धनिक निर्धन व मित्र शत्रु होजाता है। स्वार्थका सब नाता है। जिस शरीरके आश्रय जगतके प्राणियोंका सम्बन्ध है वह शरीर नाशवंत है। तब फिर सर्व संबंध थिर कैसे होसक्ते हैं। सार एक अपना ही निज आत्मा है, वही प्रेमपात्र होने योग्य है, और कोई भी सार नहीं है। इसलिये जगतका कोई भी चेतन व अचेतन पदार्थ मोहके योग्य नहीं है। जिस जिससे राग किया जाता है उस उसका वियोग होजाता है। जिस जिससे द्वेष किया जाता है उस २ से भी वियोग होजाता है। नाशवंत पदार्थोंकी पर्यायोंसे रागद्वेष करना निरर्थक है। केवल आकुलताको ही बढ़ानेवाला है। जितनी पर्याएं हैं वे सब क्षणिक हैं उनका दर्शन व्यवहारनयकी दृष्टिसे होता है। निश्चयनयकी दृष्टि पर्यायोंको न दिखाकर द्रव्योंको उनके यथार्थरूपमें दिखाती है। इस दृष्टिसे देखना ही सामायिक भावके लानेका उपाय है।

निश्चय दृष्टिसे देखते हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल छहों द्रव्य अपने २ मूल स्वभावमें शुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। जितने जीव हैं वे भी शुद्ध एकाकार परम वीतराग परमानंदमय दीखते हैं। जितने पुद्गल हैं वे सब परमाणुरूपसे भिन्न २ निर्विकार नजर आते हैं, तब रागद्वेषकी उत्पत्तिके कोई कारण नहीं

रहते हैं। इस तरह जब समताभाव प्राप्त होजावे तब साधक अपने ही आत्माकी तरफ लक्ष्य देता है। और उसको ही ग्रहण करके उसीके शुद्ध स्वभावमें एकाग्र होजाता है। तब परम सामायिक भाव प्राप्त होता है। यह परम संवर रूप तत्व है। इसके प्रतापसे बहुतसे कर्मोंका आस्रव रुकता है। इस सामायिक भावमें मन, वचन, कायकी चञ्चलता बंद होजाती है। अतएव तीन गुप्तिमय दुर्ग तैयार होजाता है। इस दुर्गमें विश्राम करना सर्व कर्मरूपी चोरोंको दूर रखनेवाला है।

सामायिक भाव संवर भाव है। ऐसा विचार करनेसे भी यथार्थ साम्यभाव नहीं मिलता है। शुभोपयोगकी छाया रहनेसे कर्मका बंध रहता है। तब मुमुक्षु जीव सर्व विचारोंकी तरंगोंको निश्चल करता है। और एक बड़ी ही सूक्ष्मदृष्टिसे कर्मोंके पुंजके मध्यमें विराजमान अपने आत्मारामके दर्शन पालेता है। तब सर्व और दृश्योंको त्यागकर टकटकी लगाकर एक अपने ही आत्माके शुद्ध चित्रको देखता रहता है। आत्मीक शुद्ध चित्रमें एकतानता प्राप्त करना ही स्वानुभव है। यही जन्मजरामरण रोगोंके शमनकी परम औषधि है। यही वह मंत्र है जो मोहरूपी विषम भयानक सर्पको वश कर लेता है। यही वह नौका है जिसपर चढ़कर साधक सीधा मोक्षद्वीपमें बढता चला जाता है। यही वह शस्त्र है जो कर्मशत्रुओंको खंड खंड कर देता है। यही वह रस है जिसे पीनेसे भव्य जीव अजर अमर होजाता है।

२९–निर्जरा तत्वविचार।

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञानके प्रतापसे अपनेको परब्रह्म

स्वरूप देखता हुआ उसीके ज्ञानमें तन्मय होकर जब वर्तन करता है तब स्वानुभवको जगा लेता है। इस स्वानुभवरूपी कलाका प्रकाश वही कर सक्ता है जो सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे विभूषित हो। इस रत्नका झलकाव तब ही होता है जब जीवादि सात तत्वोंके मननसे अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्मका उपशम किया जावे। एक आत्मप्रेमी अब निर्जरा तत्वका विचार करता है। कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर झड़ते हैं, उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा गजस्नानके समान है, क्योंकि उसके साथ नवीन बन्ध भी होजाता है। जब कर्मोंकी स्थिति घटाकर समयके पहले उन्हें खिरा दिया जाता है तब उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

इस निर्जराके लिये वीतराग भावोंकी आवश्यक्ता है। आत्माके स्वरूपकी ओर प्रेमालु होकर जब आत्मस्थ हुआ जाता है तब आत्मध्यान जागृत होजाता है। यही आत्मध्यान विपुल अविपाक निर्जराका कारण है। जिस ध्यानमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी एकता होती है वही वास्तवमें आत्मध्यान है। जहां आत्माका ही आत्मा रूप निश्चय है, आत्माका ही आत्मा रूप ज्ञान है, आत्माका ही आत्मारूप वर्तन है वही निश्चय रत्नत्रयकी एकतारूप आत्मध्यान है। इसे ही स्वानुभव कहते हैं। स्वानुभव ही वास्तवमें प्रचुर कर्मोंको जलानेके लिये अग्नितुल्य है। इस तरह निर्जरा तत्वका विचार करना भी बंध हीका कारण है अतएव यह विचार भी त्यागने योग्य है।

मन, वचन, कायका जितना भी परिणमन है वह सब पर है। इस परसे उपयोगको हटकर स्व स्वरूपमें अनुरक्त होना ही स्वानु-

भव है। स्वानुभवके समयमें मैं हूं, ऐसा मैं हूं, ऐसा मैं नहीं हूं, ऐसा मैं था, ऐसा मैं नहीं था इत्यादि तीन काल सम्बन्धी परिणमनोंका कोई भी विचार नहीं है। स्वानुभव एक ऐसी विद्या है, जो प्रकाश करनेयोग्य नहीं है। यही वह विद्या है जिससे कर्मोंके पटल हटाये जासकते हैं और केवलज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश होजाता है। धन्य है, स्वानुभव ही भवसिंधुसे पार करनेवाला अद्भुत जहाज है।

३०—बाह्य छः तप।

एक तत्वज्ञानी महात्मा सर्व प्रपंच जालोंसे रहित होकर आत्मा और अनात्माका भेदविज्ञान प्राप्त करके अनात्मासे उन्मुख होकर जब अपने ही आत्माके सन्मुख होता है, तब यकायक स्वानुभवका प्रकाश कर पाता है। स्वानुभवका जागृत होना ही मोक्षमार्ग है। यही निश्चय रत्नत्रयका प्रकाश है। यही साधन है जिससे स्वात्म सिद्धि होती है।

भेदविज्ञानकी सूक्ष्म कला उसीको सूझती है जो वास्तवमें सम्यग्दर्शन गुणसे विभूषित होजाता है। यह गुण हरएक आत्माके पास है। जिसके भीतरसे अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वका कटुक रस नहीं निकला है वह सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश नहीं कर सक्ता है।

इनके विकारोंके मिटानेका उपाय जीवादि सात तत्वोंका मनन है। निर्जरा तत्वपर विचार करते हुए तपकी स्मृति आजाती है। वास्तवमें आत्मध्यान ही तप है जिससे संचित कर्म अपनी स्थितिके पहले ही गिर जाते हैं। इस आत्मध्यानका लक्ष्य रखते हुए जो कोई साधन ध्यानमें उपकारी हैं उनको भी तपके नामसे कहा गया

है। जिन तत्वोंका बाहरी दिखाव हो व जिनका असर मुख्यतासे शरीरपर पड़े, उन तत्वोंको बाहरी तप कहते हैं। वे तप छः हैं—

(१) खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चार प्रकार आहार न करके जहां खानपान वाणिज्य व्यापारकी चिन्ताओंसे निर्वृत्त होकर अपना समय व अपनी शक्ति आत्मचिन्तवन, अध्यात्म शास्त्र पठन, श्री जिनेन्द्र भक्ति आदि वीतरागता वर्द्धक कार्योंमें लगाई जावे वह उपवास तप है। यह तप इन्द्रियोंके निग्रहमें, प्रमादको विजय करनेमें, शरीरकी शुद्धिमें व मनकी पवित्रतामें परम सहायक है।

(२) ऊनोदर—तप बताता है कि कभी पेटभर न खाओ, कुछ कम खाओ जिससे प्रमाद न सतावे, निद्रा न आवे, रोगोंका जन्म न हो, मन, वचन, काय कुशलतासे आत्मचिंतवनके सहकारी कार्योंमें वर्तन कर सकें। ज्ञानी विचारवान प्राणी अपनी भूखके चार भाग करते हैं। दो भाग भोजनसे व एक भाग पानीसे भरते हैं और एक भाग खाली रखते हैं जिससे भोजन सुगमतासे पच सके।

(३) वृत्तिपरिसंख्यान—इच्छाओंको वश करनेके लिये साधुजन कोई प्रतिज्ञा धारण कर लेते हैं, उसका प्रकाश नहीं करते हैं। यदि वह प्रतिज्ञा पूरी होती है तब वे आहार करते हैं। यदि पूरी न हुई तो संतोषसे लौट जाते हैं, कुछ भी कष्ट नहीं मानते हैं। वे प्रतिज्ञाएं ऐसी करते हैं जिनके कारण गृहस्थोंको कुछ भी विशेष आरम्भ न करना पड़े व साधुके शरीरकी व मनकी स्थिरता बनी रहे। यही वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

(४) रसपरित्याग—जिह्वा इन्द्रियकी लोलुपताके कारण छः

रस प्रसिद्ध हैं । मीठा, लवण, दूध, घी, दही, तैल । इन रसोंकी लोलुपताका त्यागभाव रखते हुए इच्छा दमनके हेतु एक या अनेक रसोंका त्याग कर देना, सो रस परित्याग है। साधुजन रसोंका त्याग करते हुए अपना त्याग प्रकाश नहीं करते हैं। यदि प्रतिज्ञाके अनुकूल आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं नहीं तो संतोष धारण करते हैं।

(५) **विविक्तशैयासन**–आत्मध्यान, स्वाध्याय, साम्यभाव व वैराग्य तथा ब्रह्मचर्यकी रक्षाके हेतु एकांतमें शैया व आसन रखना विविक्तशय्यासन तप है । यह आत्मानुभवमें परम सहायक है ।

(६) **कायक्लेश**–शरीरकी सुखियापनेकी आदतको टालनेके लिये कठिन भूमिपर, पर्वतपर, नदीतटपर, वृक्षके नीचे एक आसनसे कितनी ही देर खड़े या बैठकर ध्यान करना कायक्लेश तप है । दूसरोंको दीखे कि साधु क्लेश भोग रहे हैं परन्तु साधकका भाव क्लेशरूप न हो किन्तु आत्मचिन्तवनमें रक्त होकर आनंदित रहे ।

इस तरह चिन्तवन करना भी बन्धका ही कारण है । अतएव तत्वज्ञानी सर्व चिन्तवनके प्रपंचको छोड़कर एक त्रिगुप्तिमय आत्मीक गुफामें बैठ जाता है और वहां निजात्मीक गुणोंकी मालाका जाप करते हुए जपसे भी निवृत्त हो जब अभेदभावमें तन्मय होजाता है, तब यकायक स्वानुभवको पाकर जो आनन्द भोगता है वह वचन अगोचर है ।

३१–छः अंतरंग तप ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे मुक्त होकर जब तत्वका विचार करता है और भेदविज्ञानकी शरणमें जाता है तब उसे

अपना आत्मा सर्व परसे भिन्न दिखलाई पड़ता है। वह एक अपने ही आत्माकी तरफ उपयोगको जोड़ता है तब ही स्वानुभव झलक जाता है। यथार्थ भेदविज्ञान सम्यग्दर्शनके प्रकाश विना नहीं हो सक्ता। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि सात तत्वोंका मनन किया जावे, जिससे भेदविज्ञानकी कला प्रकाशमें आवे। निर्जरा तत्वका विचार करते हुए यह ज्ञानी अंतरंग छः तत्वोंपर दृष्टिपात करता है। जिनका सम्बन्ध केवल जीवके परिणामोंसे मुख्यतासे हो उनको अंतरंग तप कहते हैं—

(१) **प्रायश्चित्त**—जैसे विवेकवान अपने कपड़ोंको स्वच्छ रखता है, कहीं मिट्टीका या स्याहीका धब्बा लग जाता है तो तुर्त पानीसे उसको साफ कर देता है, वैसे ही ज्ञानी अपने नियम व्रत व प्रतिज्ञाओंको पवित्रताके साथ पालता है। यदि कोई प्रमादसे या लाचारीसे किसी नियममें अतीचार या दोष लग जावे तो उसका यथार्थ निराकरण गुरु द्वारा दिये हुए व्रत पालनसे व शुद्ध भावमें रमणरूप भाव प्रायश्चित्तसे कर डालता है। सदा ही वह ज्ञानी प्रायश्चित्त तपके द्वारा अपने भावोंको पवित्र रखता है।

(२) **विनय**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये ही रत्नत्रय मोक्ष साधक हैं। इनकी ओर बड़ा ही आदरभाव रखना तथा रत्नत्रय धारियोंकी विनय करना, उनका स्वागत करना सो विनय तप है। इसमें अंतरंगमें विशेष धर्मानुरागकी आवश्यक्ता है।

(३) **वैयावृत्य**—रत्नत्रयके साधकोंकी तरफ प्रेम रखके उनकी सेवा चाकरी इस तरहसे करना, जिससे अपने नियम, व्रत, संयममें

कोई बाधा न आवे व उस मोक्ष साधकका परिणाम खेदसे मुक्त होकर रत्नत्रयके पालनमें हर्षायमान होजावे । इसमें भी मोक्षमार्गकी गाढ़ रुचि आवश्यक है ।

(४) स्वाध्याय–आत्ममनन ही मुख्य स्वाध्याय है । इस ही हेतु मोक्षमार्ग प्रदर्शक ग्रंथोंका बड़ी रुचिसे पढ़ना, कहीं शंका हो तो विनयसहित पूछना, जानी हुई बातको बारबार विचारना, शुद्धताके साथ कण्ठस्थ करना, धर्मोपदेश करना स्वाध्याय तप है । उसके द्वारा अज्ञानका नाश होता है, कषायोंका बल घटता है, वीतरागताका भाव जागृत होता है ।

(५) व्युत्सर्ग–अन्तरङ्ग बहिरङ्ग सर्व परिग्रहसे ममता टाल कर शरीरसे भी निर्ममत्व होजाना, मनको ममतासे खाली कर डालना व्युत्सर्ग तप है ।

(६) ध्यान–धर्म आत्माका स्वभाव है, उस आत्माके स्वभाव पर चित्तको एकाग्र करना ध्यान है । ध्यान ही मुख्य अन्तरङ्ग तप है । आत्मध्यानसे ही कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है ।

इस तरह अन्तरङ्ग छः तपोंका विचार करते हुए विचारकको विकल्पोंकी तरंगोंमें ही कल्लोलित होना पड़ता है । इसलिये तत्वज्ञानी इस बंधकारक मार्गसे उन्मुख होता है और आत्मा ही की तरफ झुक जाता है । आत्माके परम शांत और आनंदमय उपवनमें क्रीड़ा करतेर जब परिणति थिरता भावको प्राप्त होती है तब स्वानुभवका प्रकाश होता है । स्वानुभव होते ही परमानंदका स्वाद आता है, जो कि स्वाभाविक निराकुल सुख है ।

३२–चार प्रकार धर्मध्यान।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चजालोंसे रहित होकर एकांतमें जब विचारता है तब उसे पता चलता है कि स्वानुभव कहीं बाहर नहीं है। अपने ही रसका स्वाद लेना स्वानुभव है। आप आप ही प्रकाशमान है। जब आपमें परका विकार नहीं हो तब ही स्वानुभवका झलकाव होता है। सम्यग्दर्शन रूपी प्रकाश जिस आत्मामें होता है वही स्वानुभवको प्राप्त कर सक्ता है। सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश जीवादि सात तत्वोंके मननसे होता है। तपके सम्बन्धमें विचार करते हुए देखा जावे तो तप ही वह अग्नि है जिसमें तपानेसे आत्माका मैल कटता है और यह आत्मा शुद्ध होता है। आत्माका अपने स्वरूपमें तपना ही तप है। जहां एक आत्माको ही मुख्य करके उसीके स्वादमें रमा जावे वही ध्यानरूपी तप परमोपकारी है। यद्यपि आत्मामें एकाग्रताका नाम ध्यान है तथापि यदि आत्माके गुणपर्यायोंका ही विचार रहे और राग द्वेष वर्द्धक विचारोंका अभाव रहे तब भी उस वर्तनको धर्मध्यान कहते हैं। ऐसे धर्मध्यानके चार भेद हैं—

(१) आज्ञा विचय–जिनेन्द्रके आगमकी आज्ञानुकूल जीवादि तत्वोंका, दश धर्मका, मुनि व श्रावक धर्मका, १२ तपका, १२ भावनाका आदि आगमके विषयोंका विचार करना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(२) अपाय विचय–हमारे मिथ्यात्वका व अज्ञानका व रागद्वेषका नाश कैसे हो तथा जगतके प्राणियोंका अज्ञान कैसे

हटें, वे कैसे निज स्वरूपमें रमण करके परसे मोह छोड़ें, कैसे वे आत्मीक उपवनमें रमण करें इत्यादि विचार करना अपायविचय है।

(३) **विपाक विचय**–कर्मोंके फलोंका विचारना कि मेरे या दूसरे जीवोंकी जो अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग अवस्थाएं होरही हैं उनका कारण क्या है। किस२ कर्मके उदयसे क्या २ पर्याय प्रगट होती है। साता वेदनीयादिका उदय सुखका, जब कि असातावेदनीयादिका उदय दुःखका कारण है। इस धर्मध्यानके प्रतापसे दुःखोंमें शोक तथा सुखोंमें उन्मत्तता नहीं होती है। समताभावका प्रचार होता रहता है। जितनी भी सांसारिक अवस्था हैं उनका मूलकारण कर्मोंका उदय रूप विचारना व अपनेको कर्मोदयसे भिन्न अनुभव करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

(४) **संस्थान विचय**–इस लोकका स्वरूप व आकार विचारना या यह सोचना कि यह लोक छः द्रव्योंका समुदाय रूप है। द्रव्योंका स्वरूप निश्चयनयसे व व्यवहारनयसे विचारना तथा आत्माका असंख्यात प्रदेशी आकार विचारना व इसका असल स्वरूप ज्ञाता दृष्टा आनंदमई है, ऐसा मनन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

इसतरह धर्मध्यानरूप तपका विचार चंचलता रूप होनेसे बन्ध हीका कारण है। इसलिये ज्ञानी जीव इस विचारसे अपने मनको हटाता है और एक निज आत्माकी ही तरफ सन्मुख होता है, पांच इन्द्रिय व मनके विचारोंको छोड़ता है, आत्मामें ही आत्माको विराजमान करता है, तब यकायक स्वानुभव झलक जाता है। स्वानुभव अमृतमई सागर है। जब यह सागर आत्माकी

भूमिमें वहने लगता है, इसके स्पर्शमात्रसे जो शांति मिलती है वह वचन अगोचर है। जब कोई उसमें अवगाहन करता है व उसके अमृतका पान करता है तब तो अपूर्व सुख होता है। वह तो विचारमें भी नहीं आसक्ता।

३३-पिंडस्थादि चार ध्यान।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मशांतिके लाभके लिये स्वानुभवरूपी उपवनमें क्रीड़ा करता है। भेदविज्ञानके विवेकसे आत्माके अतिरिक्त सर्व पदार्थोंसे उदास होजाता है। केवल एक आत्मा हीमें विहार करने लगता है, परन्तु यह स्वानुभव ही उसी महात्माको होना संभव है जिसके भीतर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नका विकाश होगया है। सात तत्वोंके मननसे ही यह रत्न झलकता है। निर्जरा तत्वका विचार करते हुए ध्यानके ऊपर मनन किया जाता है तो प्रगट होता है कि ध्यानका अभ्यास उसी तरह करना चाहिये जिस तरह शारीरिक व्यायामका अभ्यास किया जाता है।

इसका अभ्यास आत्मध्यानमें प्रवीण गुरुकी संगतिमें भलेप्रकार होसक्ता है। पिंडस्थादि चार ध्यानके मार्ग भी ध्यानके साधन हैं। शरीरमें स्थित आत्माका ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान है। इसकी पांच धारणाएं हैं—

पार्थिवी धारणामें अपनेको मध्य लोकके समान क्षीर समुद्रके मध्य जम्बूद्वीप समान कमलके बीच सुमेरु पर्वतके ऊपर स्फटिक सिंहासनपर बैठा विचारे कि मैं कर्म—ईंधन जलानेको बैठा हूं। आग्नेय धारणामें अपने शरीरके चारों तरफ अग्निका यंत्र त्रिकोण

बनाले, जो २२ अक्षरसे वेष्ठित हो। भीतर नाभि स्थानमें १६ स्वर वेष्ठित कमलके मध्य हैं मंत्रसे अग्निकी ज्वाला निकली हुई सोचे जो हृदयस्थ अधोमुख आठ कर्मरूपी कमलको जला रही है। बाहरका त्रिकोण शरीरको जला रहा है। सर्व शरीर व कर्म जलकर रज बन रहे हैं। पवन धारणामें अपने चारों तरफ बहती पवनको रज उडाती हुई देखे। जल धारणामें अपने ऊपर मेघोंसे जलकी धारा पडती हुई आत्माको स्वच्छ करती हुई विचारे। तत्वरूपवती धारणामें आत्माको सिद्ध सम शुद्ध देखे। पदस्थ ध्यानमें किसी पदको विराजमान करके उसके द्वारा शुद्ध वस्तुका ध्यान करे। रूपस्थ ध्यानमें अरहंतके स्वरूपका व किसी मूर्तिका ध्यान करके शुद्ध आत्माको ध्यावे। रूपातीत ध्यानमें यकायक सिद्धात्माका ध्यान करे। इन चार ध्यानोंके विचारोंका विकल्प भी बंधका कारण है ऐसा जानकर ज्ञानी निर्बंध, निर्विकल्प, परम शुद्ध अपने ही आत्माके उपवनमें ही क्रीडा करने लगता है। जब किसी गुण या पर्यायमें स्थिर होजाता है, तब ही स्वानुभव प्रगट होजाता है और तब जो अद्भुत आनंदका लाभ होता है, वह केवल स्वसंवेदनगम्य है।

३४–मोक्षतत्व विचार।

एक ज्ञानी आत्मा निज आत्मीक रसके पान हेतु भेदविज्ञानके प्रतापसे जैसे कूडे करकटके ढेरमेंसे रत्नको निकालते हैं, इस तरह पुद्गलके सूक्ष्म तथा स्थूल स्कंधोंके मध्यमें दबे हुए आत्मारूपी रत्नको निकालता है और उसका निरीक्षण परीक्षण वारवार करके उस आत्माकी सुँदरतामें जब आसक्त होजाता है तब स्वानुभवको जागृत

कर लेता है । और उसीमें विश्राम करता है । परन्तु इस प्रकारकी शक्ति उसी महात्माको प्राप्त होती है जिसको सम्यग्दर्शनका लाभ होगया है । इसी अपूर्व लाभके हेतु जीवादि सात तत्वोंका मनन उपयोगी है।

मोक्ष तत्वपर विचारते हुए यह ज्ञानी समझता है कि जब कर्मवर्गणाओंके आस्रव और बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग बिलकुल निरोध होजाते हैं तब नवीन बंधका होना रुक जाता है। आत्मध्यानमई धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानके प्रतापसे प्रज्वलित होनेवाली वीतरागताकी अग्निसे सर्व पूर्वबद्ध कर्म जल जाते हैं, उनकी कर्मत्वशक्ति नष्ट होजाती है, तब कर्मोदयसे संयोगमें आनेवाले तथा तिष्ठनेवाले तैजस शरीर और औदारिक शरीर भी गिर पड़ते हैं। एक मानव ही मोक्षतत्वका अधिकारी होसकता है । जब मानवकी आत्मामेंसे तीनों ही शरीर बिलकुल छूट जाते हैं तब यह आत्मा बिलकुल अकेला अपनी ही शुद्ध सत्तामें प्रकाशमान झलकता है। जैसे मेघरहित सूर्य चमकता है व मलरहित रत्न झलकता है व कीच रहित जल चमकता है या रज रहित श्वेत वस्त्र शोभता है। मुक्ति प्राप्त आत्मा स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करके लोकाग्रमें अनन्तकालके लिये अपने ही स्वरूपमें रमण करता हुआ निजानंदका स्वाद लेता है। यह विचार भी बन्धकारक है। अतएव ज्ञानी इस विचारकी तरङ्गावलीको बाधक समझकर निज स्वरूपमें निश्चल निस्तरंग समुद्रवत् एकाग्र होजाता है तब ही स्वानुभवको पाता है । इस अनिर्वचनीय दशामें जो आनन्दका भोग मिलता है उसे कोई प्रकाश नहीं कर सक्ता ।

३९–सात तत्वोंमें सार ।

एक ज्ञानी आत्मा षट्रसोंसे तृप्ति न पाकर किसी ऐसे रसके पानकी खोजमें है जिसके पीनेसे यह जीवन अजर अमर होजावे, फिर संसार असारमें जन्म मरण न करना पड़े। वह रस उसीको मिलता है जो स्वानुभवकी कलाको प्राप्त कर लेता है। स्वानुभवका लाभ तब ही होसक्ता है जब भेदविज्ञानके द्वारा अपने ही आत्माकी मूल सत्ताको सर्व अन्य सत्ताओंसे भिन्न तथा परम शुद्ध निर्विकार ज्ञान चेतनामय पहचाना जाय। यद्यपि शास्त्रोंके पढ़नेसे ज्ञान होता है परन्तु भेदविज्ञानका लाभ तब ही होता है जब आत्माका सतत विवेकपूर्वक मनन किया जावे।

जीवादि सात तत्वोंका व्यवहारनयसे ज्ञान प्राप्त करके उनके भीतर प्रथम व्यवहारनयहीसे यह विचारनेकी जरूरत है कि कौन२ तत्व उपादेय हैं व कौन २ तत्व हेय हैं। जिन तत्वोंसे आत्मा परमात्मा पदपर जासके वे तत्व ग्रहण करने योग्य हैं, शेष त्यागने योग्य हैं। सात तत्वोंमेंसे जीव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्व उपादेय हैं। अजीव, आस्रव, बन्ध हेय हैं।

जब निश्चयनयसे विचार किया जाता है तो वे सातों ही तत्व जीव और पुद्गलसे रचे हुए हैं। आत्मा और कर्मोंके सम्बन्धकी अपेक्षा ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्व हैं। जैसे–खोया और शक्कर दो चीजोंको लेकर ५ प्रकारकी मिठाई तैयार की जावे और उनका भिन्न २ नाम गुलाबजामन, लाडू, बरफी आदि रख दिया जावे, वैसे ही यह आस्रवादि तत्व जीव पुद्गलसे बने

हैं। तब इन दोमें कौन उपादेय व कौन हेय है? विचार करनेसे झलकता है कि एक शुद्ध जीवतत्व ग्रहण व ध्यानयोग्य है जब कि पुद्गल हेय है। पुद्गलमें ज्ञानावरणादि आठ कर्म, शरीरादि नोकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म सर्व गर्भित हैं। इसलिये यही मनन करना चाहिये कि एक निज आत्माका निज स्वभाव ही उपादेय है।

इस प्रकार विकल्पात्मक विचार करनेसे भी बंध ही होता है। यह विचार भी बंधका मार्ग है। तब ज्ञानी इसे भी त्याग कर निर्विकल्प परम समाधिको जागृत करनेके लिये अपने ही शुद्ध आत्माकी तरफ जाता है। उपयोगको निजमें ही एकाग्र करता है। ध्यानका धारावाही श्रोत बहाता है। और उस श्रोतके स्वानुभव रूप अमृतका पान करता है तब जो अद्भुत आत्मानन्द पाता है। वह मात्र अनुभवगम्य है। मन भी उसके आनंदका पता नहीं पासक्ता है, केवल प्रशंसाका ही विकल्प कर सक्ता है।

३६—जीवाजीव भेद विचार।

ज्ञानी आत्मा स्वानुभवका रसिक होता है। यह स्वानुभव ही वास्तवमें मोक्षमार्ग है। यही रत्नत्रयकी एकतारूप है, इसीसे ही स्वात्मानन्दका लाभ होता है, यही वीतरागता पूर्ण ध्यानकी अग्निको प्रकाश करता है जिससे कर्मोंकी निर्जरा होती है। जीवनको सुख-शांति देनेका मुख्य उपाय स्वानुभव है। अपने आत्माके ही प्रदेशोंमें रमना, पुद्गलके द्रव्य गुण पर्यायसे वैराग्यभाव होना स्वानुभवका उपाय है। यह स्वानुभव उस ही महात्माको होता है जिसको सम्यग्दर्शनका लाभ है।

सम्यग्दर्शन गुणका प्रच्छादक जो मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषाय हैं उनके दमनका उपाय निश्चयनयसे जीवादि सात तत्वोंको जानकर भेदविज्ञानका मनन है। जीव और अजीव इन दो तत्वोंके मेलसे ही शेष आस्रवादि पांच तत्वोंकी संज्ञाएं प्रसिद्ध होती हैं। उनमेंसे जीव ही उपादेय है अजीव हेय है ऐसा मनन करना आवश्यक है। मैं कर्मोंसे भिन्न हूँ, ज्ञानावरणादि कर्म कर्मवर्गणाओंसे बने हैं। कर्मवर्गणाएं सूक्ष्म पुद्गल स्कंध हैं। उनके उदयसे ही रागद्वेषादि भावकर्मकी कलुषता प्रगट होती है। उन्हींके उदयसे ही शरीरादि बाहरी पदार्थोंका संयोग शुभ व अशुभ होता है। जब कर्मका सारा प्रपंच मेरे आत्माके स्वभावसे जुदा है तब कर्मके उदयका प्रपंच मुझसे जुदा है। मेरी सम्पत्ति वही है जो मेरे साथ सदा ध्रुव रहती है। वे हैं मेरे ही शुद्ध गुण जिनका एक अखंड समुदायरूप मैं आत्मद्रव्य हूं। जगतकी भौतिक सम्पत्तिसे—अहमिंद्र चक्रवर्ती आदिकी विभूतियोंसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा नमूना परमात्मा श्री सिद्ध भगवान हैं। जैसा उनका स्वभाव है वैसा ही मेरे आत्माका स्वभाव है।

यद्यपि मैं गुणोंका धारी द्रव्य हूं तथापि मैं उन गुणोंका एक अभेद पिंड हूं। जैसे बर्तनमें फल रक्खे हों वैसा मेरा और गुणोंका संबंध नहीं है; किन्तु एक बिलकुल अमिट अभेद संयोग है जिसको तादात्म्य अनादि सम्बन्ध कहते हैं। मेरी सत्ता भी सर्व अन्य आत्माओंसे, सर्व अणु व स्कंध पुद्गलोंसे, धर्मास्तिकायसे, अधर्मास्तिकायसे, आकाशसे, काल द्रव्यके असंख्यात अणुओंसे निराली है।

मैं अब जिस तरह अपने आत्मीक द्रव्योंको शुद्ध निर्विकार देखता हूं वैसे ही लोकके सर्व ही आत्माओंको शुद्ध और निर्विकार देखता हूं। न मेरा कोई मित्र व बन्धु है, न कोई मेरा शत्रु है। सब मेरे ही समान हैं। जितने गुण मेरेमें हैं उतने ही गुण सबमें हैं। व्यक्तिपनेकी अपेक्षा भिन्नता न हो तो सबका अनुभव एक हो सो नहीं है। सर्व ही अपनी २ ज्ञान चेतनाके भीतर प्रकाश कर रहे हैं। इस तरहका विचार भी बंधका कारक है। अतएव तत्वज्ञानी इस विचारको भी समेटता है और थिरता करके अपने ही ज्ञानः भावरूपी सागरमें आप ही गोते लगाता हुआ उसीमें समाजाता है। तब मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे उपयोग हटजाता है तब ही स्वानुभवका प्रकाश होता है, यही स्वानुभव अनिर्वचनीय आनन्दका श्रोत है।

३७—सम्यग्दर्शनका प्रकाश।

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञानके वारवार मननसे करणलब्धिके प्रतापसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके परम सुखी होगया है। मानो वह भवसागरके पार ही होगया। जिसको बम्बई जानेका टिकट मिल जावे और वह बम्बई जानेवाली गाड़ीपर बैठ जावे तो उसको यह पक्का भरोसा होजाता है कि मैं तो अब बम्बई पहुंच ही गया।

सम्यग्दर्शनका लाभ होना मानो मुक्ति—पुरी जानेका टिकट मिल जाता है। वह इस टिकटको पाकर स्वानुभवकी गाड़ीपर सवार होजाता है। यह गाड़ी सीधी मोक्षपुरको जाती है।

इस कारण सम्यक्ती होनेके समान कोई भाग्यशालीपना नहीं है। सम्यक्ती उस चक्रवर्तीसे अच्छा है, उन मुनिसे अच्छा है

जिनको सम्यक्त रत्नका लाभ नहीं है । सम्यक्ती बड़ा धनशाली है बड़ा ही सुखी है । इन्द्र धरणेंद्रकी सम्पदा उसके तुच्छ भासती है। सम्यक्तीके दिलमें मुक्तिसुन्दरीकी मनोहर छवी निरन्तर वास करती है । उसके पास पूर्व बांधे हुए कर्मोंके बहुतसे जाल मौजूद रहते हैं इससे वह उन जालोंमें फंस जाता है, परन्तु उसके भीतरसे मुक्ति–सुन्दरीका गाढ स्नेह कभी नहीं जाता । वह जब कभी अवसर पाता है, अपने उपयोगको और कर्मोंसे हटा लेता है और उसे मुक्तिसुन्दरीके रूपमें लगा देता है । बस, स्वानुभवका लाभ प्राप्त कर लेता है ।

जब स्वानुभव होता है, तब मनका चिंतवन बन्द होजाता है, वचनोंका प्रवाह रुक जाता है, शरीरका हलन चलन अटक जाता है । मन, वचन, काय तीनों ही आत्माके स्वानुभवके स्वरूपके विरोधी हैं । ये तीनों ही आत्माके विरुद्ध पुद्गल द्रव्यकी बनी हुई अवस्थाएं हैं । अतएव स्वानुभवमें इनका कोई काम नहीं । स्वानुभवको स्वसंवेदन ज्ञान भी कहते हैं । इसी लिये कि वहां अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माका वेदन या भोग किया जाता है ।

स्वानुभवमें आनन्दामृत इतना भरा रहता है कि उसका जितना भी पान करो पानकर्त्ताको बड़ा ही संतोष होता है । परन्तु यह अमृत कुछ भी कम नहीं होता है । जो अमर बनावे वही अमृत होता है । स्वानुभवके भीतर भरा हुआ आत्मानन्द ही सच्चा अमृत है जो भवभ्रमणकारी कर्मका बंधन काटता है और आत्माको अजर अमर व आवागमनरहित कर देता है ।

स्वानुभवरूपी गुफामें सिद्धोंका निवास है। स्वानुभव रूपी सिंहासनपर अरहंतोंका निवास है। स्वानुभव रूपी आश्रममें साधुओंका निवास है। स्वानुभव रूपी एकांत आसनपर श्रावकोंका निवास है। स्वानुभव रूपी चटाईपर सम्यग्दृष्टी बैठते हैं। स्वानुभवका शरण ही परम शरण है। यही परम उपकारी मित्र है। यह स्वानुभव नारकीको भी तीर्थंकर बना देता है। स्वानुभवसे एक महात्मा शीघ्र परमात्मा होजाता है। धन्य हैं वे सज्जन जो स्वानुभवका लाभ करके अपनेको जीवनमुक्त समझते हैं।

३८-सोऽहंका विचार।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्याग कर एकान्तमें बैठ जाता है और विचारता है कि ऐसा क्या प्रयत्न करूं जिससे ऐसी अवस्थामें पहुंच जाऊं जहां कोई सांसारिक चिन्ता न सतावे। न राग हो, न द्वेष हो, न मोह हो, न मान हो, न माया हो, न लोभ हो, न मनका हलन चलन हो, न वचनकी फिरन हो, न कायकी फिरन हो, न कुछ विचार हो, न कुछ मनन हो, न कुछ करना हो, न कुछ भोगना हो। वह अवस्था एक अपने ही आत्माका सारभूत स्वभाव है।

इसी स्वभावमें जमना ही स्वानुभव है। इस स्वानुभवके लिये शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिको सामने रखकर आत्म पदार्थको देखना चाहिये। व्यवहार दृष्टिको बिलकुल बन्द कर देना चाहिये। शुद्ध निश्चयकी दृष्टिको ही द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यका मूल स्वभाव इसी दृष्टिसे दिखलाई पड़ता है। मूल स्वभावसे [illegible]

आत्मारूप ही है, उसका वर्णन वास्तवमें हो नहीं सक्ता। उसका मूल स्वभाव मात्र अनुभवगम्य है। यदि स्वभावका कथन कुछ किया भी जावे तो अपने सामने श्री सिद्ध भगवानको विराजमान करके उनहींके गुणोंका मनन कर जाना चाहिये। जो सिद्ध हैं सो मैं हूं, जो मैं हूं सो सिद्ध हैं। सिद्ध भगवान ही मेरे आत्माका नमूना है।

सिद्धमें न आठ कर्मका संयोग है न रागादि कोई भाव कर्म हैं न शरीरादि कोई नोकर्म हैं। परम शुद्ध आत्माका आदर्श है। सिद्ध भगवान ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त, सुख आदि शुद्ध गुणोंके समुदाय हैं। वे शुद्ध ज्ञान चेतनाके स्वामी हैं। उनमें न कर्म चेतना है न कर्मफल चेतना है। उनके असंख्यात प्रदेश बिलकुल शुद्ध हैं। एक२ प्रदेशमें ऐसी शक्ति है कि जितने वर्तमानमें दृश्य पदार्थ हैं उनके समान करोड़ों ऐसे पदार्थोंके समुह हों वे भी उसमें झलक जावें। सिद्ध स्वभावको बचनोंसे कहनेका प्रयास करना हाथोंसे आकाशको मापना है। सिद्धोंके स्वरूपको जाननेका उपाय वास्तवमें अपने ही आत्माको जानना है। आत्माको जाननेका भी उपाय बड़ा ही दुष्कर है। बस एक उपाय है। जो कुछ मन व इन्द्रियोंके गोचर आनेवाली पर्यायें हैं वे सब आत्मामें नहीं हैं, न वहां ८ कर्म हैं न उनके १४८ भेद हैं न उनके बंधके कारण भाव हैं न उनके विपाकसे होनेवाली अवस्थाएं हैं। सारा संसार व उसकी चार गतियोंकी सर्व अवस्थाएं आठ कर्मोंका नाटक है। जब आठ कर्म आत्मामें नहीं तब सर्व संसारकी अवस्थाएं भी आत्मामें नहीं। आत्माके जाननेका उपाय यही है जो सर्व संसारकी पर्यायोंसे

उपयोगको रोका जावे और अपने आपमें ही उसको लगाया जावे। पांच इन्द्रिय और मनसे हटाना ही अपने आपमें जमाना है। जो योगी बिलकुल एकांतमें ठहर कर अपने आत्माके भीतर आप ही तन्मय होजाता है, वह एक ऐसी अनिर्वचनीय दशाको पहुंच जाता है जिसको कोई मनसे भी शोच नहीं सक्ता है। यही स्वानुभवका महान आनंदमय बगीचा है। इसमें ज्ञानी जीव निरन्तर कल्लोल करके जो अपूर्व सुखशांतिका लाभ करता है उसकी महिमा आश्चर्यकारी है। यही स्वानुभव मोक्षपथ है। यही मोक्ष है।

३९–शुद्ध निश्चयनय।

एक ज्ञानी आत्मा संसारके दुःखमय विकट मार्गसे उकताकर ऐसा उपाय ढूंढ़ता है जिससे विना किसी परावलंबनके सच्ची सुखशांतिका लाभ होजावे। भेदविज्ञानके प्रतापसे उसको इस बातका निश्चय है कि यह आत्मा स्वभावसे परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा आनन्दमई वीतराग है व शेष सर्व संयोग पाप पुण्य कर्मोंके उदयका खेल है। सच्ची सुख शांति मेरे ही आत्मामें है। तब वह अपने उपयोगको सर्व तरफसे रोककर उपयोगके स्वामीपर अर्थात् अपने ही आत्मापर जोड़ता है। अपने उपयोगका अपने ही आत्माकी भूमिकामें जम जाना ही स्वानुभव है। स्वानुभव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी एकताको कहते हैं। यही मोक्षमार्ग है। इसपर चलना ही स्वानुभवरूप मोक्षका साधक है।

यह जगत भिन्न २ द्रव्योंका समुदाय है, तौभी एक द्रव्यकी सत्ता दूसरे द्रव्यकी सत्तासे भिन्न है। एक प्रदेश मात्र आकाशके

स्थानपर देखा जावे तो वहां जीव हैं, पुद्गल हैं, धर्म व अधर्म द्रव्य हैं काल व आकाश हैं। जीव अनेक होसकते हैं, पुद्गल अनेक होसकते हैं। कालाणु एक ही मिलेगा, धर्म व अधर्म व आकाशका एक २ ही प्रदेश होगा। जीवकी अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भागसे कम नहीं होती है। इसलिये एक प्रदेश मात्र स्थानपर अनेक जीवोंके प्रदेशोंका भाग समझना चाहिये। पुद्गलके अनेक अणु व अनेक सूक्ष्म स्कंध एक प्रदेश मात्र स्थानपर रह सकते हैं। ऐसी ही जगतकी स्थिति होने पर भी हरएक जीव हरएक जीवसे व हरएक पुद्गल परमाणुसे व शेष द्रव्योंसे सर्वथा जुदा है। भेदविज्ञानकी दृष्टिसे देखते हुए हरएक जीव शुद्ध ही दिखता है। इस दृष्टिसे देखते हुए राग द्वेषका अभाव होजाता है। समताभाव जागृत होजाता है। समताभाव उस चंद्रमाकी चांदनीके समान है जो सर्वमें फैली हुई भी कभी विकृत नहीं होती है। सूर्यकी धूप भी नीच ऊँच, मैले उजले, छोटे बड़े सब प्रकारके पदार्थोंपर फैलती है। किसीसे राग द्वेषभाव नहीं करती है। ऐसी समभावकी दृष्टि शुद्ध निश्चय नयके प्रतापसे साधकको प्राप्त होजाती है। इस दृष्टिसे देखते हुए अपना आत्मा जैसा है वैसा ही अन्य आत्मा है। व्यवहार नयकी दृष्टि भेद भावको देखती है। इस दृष्टिको गौण करना ही स्वानुभवके पानेका उपाय है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी महात्मा व्यवहारमें जगतका काम ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य शूद्रके कर्तव्य अनुसार करता हुआ भी इस सब कर्तव्यको पुद्गल द्रव्यका विकार समझता है। अपने आत्माको परकी पर्यायका अकर्ता अभोक्ता समझता है।

हरएक द्रव्य अपने ही गुणोंमें परिणमन करता रहता है, यह वस्तु स्वभाव है। इसीलिये यह ज्ञानी अपने ही शुद्ध गुणोंमें रमण करता हुआ जब किसी एक गुण या पर्याय या द्रव्यपर थिर होजाता है तब इसके भीतर स्वानुभवका प्रकाश होजाता है। यही निजानन्दकी प्राप्तिका स्रोत है।

४०–ज्ञान चेतनामई भोग।

ज्ञाता दृष्टा आत्मा सर्व विकल्प जालोंको त्याग कर एकान्तमें बैठकर स्वानुभवके लिये भेदविज्ञानकी शरण ग्रहण करता है। भेदविज्ञानके प्रतापसे अपना आत्मा सर्व पर पदार्थोंसे भिन्न दिखता है तब अपने उपयोगको अपने आत्माके स्वभावमें रमानेकी जरूरत है। जिस समय उपयोगको पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे व मनके विकल्पोंसे हटा लिया जाता है तब ही आत्माकी तरफ उपयोग झुक जाता है और आत्माका अनुभव होजाता है। जीवनके भीतर सुखशांति पानेका उपाय एक आत्माकी प्रतीति रखकर आत्माके आनंदका स्वाद लेना है। कर्म चेतना व कर्मफल चेतनाका त्याग ही ज्ञान चेतनाका लाभ कराता है। मैं निश्चयसे न शुभ कर्मका कर्ता हूं न अशुभ कर्मका कर्ता हूं। कर्तापना मेरा स्वभाव ही नहीं है। इस तरह समझकर अपने आपको न ज्ञानावरणादि कर्मका न घट पट आदिका कर्त्ता माने, न रागद्वेष मोहादि कुभावोंका कर्त्ता माने। ये सब भाव व कर्मपुद्गल कर्मके उदयसे होते हैं। संसारी जीवोंमें जो अशुद्धोपयोग होता है व मन, वचन, कायकी क्रिया होती है यह ही सांसारिक कार्योंके करनेमें निमित्त कारण है। शुद्धात्मा पर परि-

णति व परकी अवस्थाका न उपादान कारण है न निमित्त कारण है। उपयोग और योग जो निमित्त कारण हैं, वे भी कर्मके उदयसे काम करते हैं। इसलिये मैं निश्चयसे कर्म चेतना धारी नहीं हूं। इसी तरह मैं कर्मफलका भोक्ता भी नहीं हूं। निश्चयसे न मैं कर्मोंका बांधनेवाला हूं न मैं उनका फल भोगनेवाला हूं। मैं ज्ञानावरणीय कर्मसे भिन्न हूं। इससे अज्ञानका भोक्ता नहीं। मैं दर्शनावरणीय कर्मसे भिन्न हूं, इससे अदर्शनका भोक्ता नहीं। मैं मोहनीय कर्मसे भिन्न हूं, इससे राग, द्वेषका व मैं सुखी, मैं दुःखी इस भावका भोक्ता नहीं, मैं अंतराय कर्मसे भिन्न हूं, इससे निर्मलताका भोक्ता नहीं। मैं आयु कर्मसे भिन्न हूं, इससे आयुके फलसे शरीरमें कैदका भोक्ता नहीं। मैं नाम कर्मसे भिन्न हूं, इससे नामके उदयसे प्राप्त शरीरोंकी रचनाका भोक्ता नहीं। मैं गोत्र कर्मसे भिन्न हूं, इससे मैं उच्च नीच भावका भोक्ता नहीं। मैं वेदनी कर्मसे भिन्न हूं, इससे साता-कारी व असाताकारी पदार्थोंका भोक्ता नहीं। इस तरह मैं कर्मफल चेतनका भोक्ता नहीं। मैं ज्ञान चेतनाधारी हूं। अपने शुद्ध ज्ञाना-नन्द भावका ही भोक्ता हूं। इससे मैं उसी निज भावमें आसक्त होकर अपने स्वरूपका ही स्वाद लेता हुआ स्वानुभवका रमता हो जाता हूं।

४१–षोडशकारण भावना।

एक ज्ञानी आत्मा आत्मीक रस पान करनेके लिये निज आत्माके स्वभावको लक्ष्यमें लेता है और अपना उपयोग सर्व निज आत्मासे भिन्न पर वस्तुओंसे हटा लेता है। जब आत्माराममें प्रवेश

करता है, और उसके मनोहर गुणरूपी वृक्षोंपर दृष्टिपात करता है, तब उसका मोह बढता जाता है। वह गुणोंका आसक्त होजाता है। जब उपयोग एकतानतासे आत्मारामर्में जम जाता है तब ही स्वानुभव पैदा होजाता है। स्वानुभव अमृत रससे भरा हुआ समुद्र है। उस रसके सामने जगतके कोई स्वाद नहीं हैं। बड़े २ महा-राजा सम्यग्दृष्टी इसी रसके रसिक बनकर महात्मा पदवीको पाते हैं।

स्वानुभव मोक्षका द्वार खोल देता है। स्वानुभव अतींद्रिय आनन्दको प्रदान करता है। स्वानुभव वह शक्ति है जो चेतनको अचेतनकी तरफ जानेसे रोकती है। स्वानुभव एक ऐसा मित्र है जो सर्व शोकसे, सर्व आकुलतासे बचा देता है और संसारकी दुःखमय कल्पनाओंको मिटाकर ज्ञानानंदको प्रदान करता है।

स्वानुभव वह हवाई विमान है जो सीधा मोक्षपुरमें जाता है। स्वानुभव वह विद्या है जो विद्याधरोंको भी अप्राप्य है। जो सर्व ही परभावोंसे उदास होकर आप आपमें आपसे तिष्ठनेका अभ्यास कर लेते हैं उसको इस विद्याका लाभ होता है। यह वह अमोघ विद्या है जिसका कभी नाश नहीं होता है।

स्वानुभव ही दर्शनविशुद्धि है। जहां आत्माका दृढ़ श्रद्धान होता है वहीं स्वानुभव जागृत होता है। जहां स्वानुभव है वहीं यथार्थ धर्मकी विनय है। जहां स्वानुभव है वहीं निर्दोष शील स्वभाव है, वहीं निर्दोष व्रत है। जहां स्वानुभव है वहीं निश्चय ज्ञानोपयोग है, वहीं सच्चा संवेग है। जहां स्वानुभव है वहीं सच्चा त्याग भाव है। वहां आत्मा अपनेसे अपनेको आनन्द—रसका दान

करता है । जहां स्वानुभव है वहीं सच्चा तप है । जहां आत्मा आत्मामें तपे वही तप है । स्वानुभवमें तिष्ठना ही आत्मा साधुका समाधान करना है । स्वानुभव ही सच्चा वैयावृत्य है । जिससे आत्मा पुष्ट होता है, उसका भवका खेद मिटता है । स्वानुभव ही श्री अर्हत् भक्ति है । अर्हत्पना अपने ही आत्माके पास है । आत्मा ही आचार्य है, आत्मा ही उपाध्याय है, स्वानुभव ही आचार्य व उपाध्यायकी भक्ति है, स्वानुभव ही जिनवाणीकी निश्चय भक्ति है, स्वानुभव ही आवश्यक कर्म है । स्वतंत्र कर्म है । स्वानुभव करना ही आत्माकी प्रभावना है । स्वानुभव ही सच्चा वात्सल्य भाव है । जो स्वानुभव करता है वह यथार्थ रूपसे षोडशकारण भावनाओंको भाता है । स्वानुभव कर्ता ही वास्तवमें तीर्थंकर होकर सिद्ध पद पाता है ।

४२—प्यारी उत्तम क्षमा ।

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञानके प्रतापसे अपनी सम्पत्तिको अपनी समझता है, परकी सम्पत्तिको परकी समझता है । जड़ व चेतन दोनोंको साझीदार बनाकर संसारकी दूकान चला रहे हैं । इस दूकानमें विशेषता यह है कि जड़ लाभ व हानिका जिम्मेदार नहीं है । लाभ व हानि चेतनको ही उठानी पड़ती है । वह केवल कौतूहलवश चेतनके साथ सारा व्यापार करता है और जड़का संयोग ऐसा जरूरी है कि उसके विना एक अंश भी सांसारिक अवस्था जीवके नहीं होसक्ती है । पुद्गलकी संगतिसे शरीर है, योगोंका परिणमन है, कषायोंका उदय है, कर्मोंका अस्तित्व है, कर्मोंका बंध है ।

शरीरकी सहायतासे ही तपका साधन है, ध्यानका अभ्यास है, मोक्षका साधन है। शरीरके संयोग विना न पाप है, न पुण्य है, न शुद्धोपयोगका साधन है। जितना कुछ बन्ध व मोक्षका मार्ग है वह सब जड़ चेतनके संयोगसे है, तथापि लाभ व हानिका अधिकारी चेतना गुणधारी जीव है।

भेद विज्ञान यह बताता है कि यदि जड़का संयोग बिलकुल आत्मासे भिन्न समझा जावे। देखा जावे तो ऐसा दीखेगा कि आत्मा परम शुद्ध है, निर्विकार है, परमात्मारूप है, ज्ञाता दृष्टा है। यही ईश्वर है, यही आनंदमय तत्व है। जहां यह प्रतीति है, जहां यह ज्ञान है वहां ही जब उपयोग जड़से हटाकर आत्मस्थ किया जाता है, तब यकायक **स्वानुभव** पैदा होजाता है। स्वानुभवमें आत्माके भीतर यद्यपि अनुभव कर्ताको एक अद्वैत भाव दीखता है तथापि एक बिचार करनेवाले मनको यह दिखता है कि वहां परमप्यारी परमोपकारिणी **उत्तम क्षमा** देवी परम प्रेमसे विराज रही है। यह उत्तमक्षमादेवी इस आत्माराम देवकी परम प्यारी महिला है।

इसका और इस आत्माका अमिट अखंड संयोग है जिसे तादात्म्य संबन्ध कहते हैं। उत्तम क्षमा चेतनको छोडती नहीं। चेतन उत्तम क्षमाको छोडता नहीं। यदि कदापि कोई क्रोध भाव शत्रुरूप आ जावे और दोनोंको विकारी कर दें तो दोनों हीको ऐसा ही कष्ट होता है जैसे चकवाको चकवीके वियोगसे परस्पर होता है। उत्तम क्षमाके साथमें इस चेतन प्रभुको मेरुवत् निश्चल रहनेकी शक्ति रहती है। यदि वज्रमई पहाड भी आत्मापर टूट पड़े

तौ भी बाल बांका नहीं होता है । उत्तम क्षमाके संयोगसे आत्माराम अनंत बलको भोगते हैं, अनंत सुखको भोगते हैं और जिस अद्भुत आनन्दामृतका पान करते हैं उसका विवेचन किसी भी तरह नहीं होसक्ता है। धन्य हैं वे वीरात्मा जो इस **उत्तम क्षमाके** प्रेमी होकर परम सुखका भोग करके परमसंतोषी होजाते हैं ।

४३–अपूर्व दशलक्षणधर्म ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे मुक्त होकर भेदविज्ञानके द्वारा आत्मा और अनात्माको भिन्न भिन्न विचारता हुआ जब आत्मापर ही एकाग्रतासे आरूढ होजाता है तब तुर्त स्वानुभवको प्राप्त कर लेता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है जो सीधा मोक्ष–द्वीप तक चला गया है। इस स्वानुभवको एक प्रकारका पानक या अमृतमई शरबत कह तो अत्युक्ति न होगी। जैसे पानक अनेक वस्तुओंके मेलसे बनता है वैसे स्वानुभवमें अनेक आत्मीक धर्मोंका मिश्रण है ।

उन धर्मोंमें आनन्द गुण प्रधान है इसलिये आनन्दका स्वाद अधिक आता है। जैसे पानकमें मिष्ट मुख्य प्रधान है, मिष्टताका स्वाद अधिक आता है।

इस स्वानुभव रूपी पानकमें धर्मके दश लक्षण गर्भित हैं। यहां उत्तमक्षमा है क्योंकि स्वानुभवके समय क्रोध भावका पता भी नहीं चलता है। यदि घोर उपसर्ग भी पड़े तोभी स्वानुभव कर्ताको कुछ भी अपने स्वरूप रमणसे विचलित नहीं कर सक्के। उत्तम मार्दव भी इसमें गर्भित है। यहां मानकी कठोरता रंचमात्र भी नहीं

है। यहां परके भीतर अहंकार बुद्धिका सर्वथा अभाव है। स्वानु-भवमें तो आपसे आपका ही ग्रहण है। वह आत्मराम परम कोमल है।

उत्तम आर्जव भी यहां विराजमान है क्योंकि स्वानुभवमें मायाचारकी कुटिलताका नामोनिशां नहीं है। जो मन कुटिलाई करता है उसका ही वहां अभाव है। वहां तो पूर्ण सरलता है तब ही स्वानुभव नाम पाता है। इस स्वानुभवमें पूर्ण संतोष, उत्तम शुचिता व कृतकृत्यपना है। यहां लोभकी मलीनताका रंच मात्र भी स्पर्श नहीं है। स्वानुभवमें सर्व ओर परम पवित्रता है। परमात्मा रामका ही साम्राज्य है। स्वानुभवमें उत्तम सत्यका तो बड़ा विशाल झंडा फहरा रहा है। यहां असत्यताका नामोनिशान नहीं है। आत्मा सत्य है, ध्रुव है। उसीमें ही यहां विश्राम है। यहां उत्तम संयम भी शोभायमान है। इस स्वानुभवके समय पांचों इन्द्रियां भी शयन कर रही हैं, मन भी मुरझाया हुआ है।

स्वानुभवमें आप आपमें तल्लीनता है। मन वचन कायका भ्रमण नहीं। इनका भ्रमण हो तब प्राणघात हो। यहां तो आपका आपमें संयमितपना है। इसी स्वानुभवमें उत्तम तप भी है। यहां आत्मा अपने ही रत्नत्रय स्वरूपकी अग्नि जलाकर आपको उसमें तपा रहा है। अपनी ही दीप्तिसे दीप्तमान है। यहां सर्व प्रकारकी इच्छाओंका अभाव है। परम निस्पृह भावका ही दौरदौरा है। स्वानुभवमें उत्तम त्याग धर्म भी है।

आत्मा अपने ही भण्डारसे आत्मानन्दका ग्रहण करके अपने ही आपमें विराजित आत्मारूपी अतिथिको अपने ही शुद्ध आत्मीक

भावसे प्रदान कर रहा है । यह अपूर्व निश्चय दान है । इस दानसे सर्व आशाएं तृप्त होजाती हैं । इसी स्वानुभवमें परम आकिंचन्य धर्म है । यहां तो न परिग्रह है न मूर्छा है न ममत्व है, न परके साथ कोई सम्बन्ध है । यहां तो अपनी ढपली व अपना ही राग है । यहां आत्माके सिवाय किन्हीं पुद्गलादि द्रव्योंका प्रवेश नहीं है । इस स्वानुभवमें उत्तम ब्रह्मचर्य भी चमक रहा है । यहां काम भावका प्रवेश ही नहीं है । कुशील वर्तन हो ही नहीं सक्ता है । सिवाय इसके यहां परम ब्रह्मस्वरूप निज आपके ही स्वभावमें रमण है, अपूर्व निश्चय ब्रह्मचर्य है । इसतरह उत्तमक्षमादि दश धर्मोंके मिश्रणसे बना यह स्वानुभव रूपी शरबत है। जो इसको पान करता है वही तृप्त होजाता है, वह अनुपम सुखशांतिको पाता है, उसे सच्चा मोक्षमार्ग मिल जाता है, वे रोकटोक यह प्रज्ञावान इस मार्गपर चलता हुआ मोक्षनगरकी तरफ बढा जारहाहै ।

४४–तेरह प्रकार चारित्र पूजा ।

एक ज्ञानी आत्मा श्री जिनेंद्र समान अपने ही आत्मदेवके सामने बैठकर बड़े भावसे रत्नत्रयके २९ अंगोंमें सम्यक्चारित्रके १३ अंगोंकी पूजा करता है । वह अहिंसा व्रतके सन्मानार्थ पूर्ण समता भावसे सना हुआ अर्घ चढाता है । जिस समतामें यह भावना है कि सर्व जीव निश्चयसे समान हैं. हिंसाका भाव भी वहां होना असंभव है । सत्यव्रतके आदरके लिये आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञानरूपी दीपक जलाकर आरती उतारता है । अचौर्य व्रतके लिये सर्व परभावोंसे ममता रहित होकर परपरणतिसे विरक्तताका

निर्मल जल चढाता है। ब्रह्मचर्य व्रतके आदरके लिये ब्रह्मभावमें लय होकर परम शीतलताका चंदन चढाता है। परिग्रह त्याग व्रतके सम्मानार्थ निःसंग भावके अविनाशी अक्षत लेकर बड़े भावसे पूजा करता है।

ईर्यासमितिके लिये यह ज्ञानी अपनी ही आत्मभूमिमें इस तरह अप्रमाद भावसे चलता है कि आत्माके किसी भी गुणका घात नहीं होता है। भाषा समितिके लिये यह ज्ञानी वचन वर्गणाओंको कष्ट न देकर अपनेमें स्वयम् तल्लीन होकर परिणमन करता है। कभी काम पड़ता है तो 'सोहं या ॐ' की ध्वनि लगाकर अपने मित्र आत्मारामका संबोधन करता है। आदाननिक्षेपण समितिके लिये यह स्वयम् शुद्ध स्वरूपको ग्रहण कर लेता है और सर्व अनात्मभावोंको इतनी सावधानीसे पटक देता है कि आत्माके भीतर किंचित् भी विकार उत्पन्न नहीं करता है। एषणा समितिके लिये वह सर्व सांसारिक आहारको त्याग कर अपने ही आत्मानुभवसे उत्पन्न आनंदामृतको बड़ी ही रुचिसे पान करता है। आत्मा स्वयम् दातार होकर आत्मारूपी पात्रको आनन्दामृतका आहारदान करता है।

उत्सर्ग समितिके लिये इस ज्ञानीने अपने निर्विकार शुद्ध स्वरूपको अपने पास रख लिया है। परके सर्व औदारिक, कार्माण, तैजस शरीर रूप मलको व उनके निमित्तसे होनेवाले विकारोंको छोड़ दिया है, पूर्ण पवित्रता धारण कर ली है। मनोगुप्तिके लिये आत्माको जब आत्माद्वारा स्वसंवेदनसे जान लिया तब मनका संकल्प-विकल्प स्वयं ही छूट गया।

वचन गुप्तिके सम्मानके लिये इसने मौनावलम्बन किया है और एक ऐसे आत्मदुर्गमें प्रवेश करके विश्राम किया है जहां वचनोंके कहनेका कभी विकार ही नहीं होसक्ता है। काय गुप्तिके सम्मानार्थ यह काय रहित शुद्धात्मप्रदेशोंमें ही रमण करके उस अकायको अपनी काय बना लेता है। इस तरह जब यह आत्मा सर्व चिंता छोड़कर स्वानुभवमें कल्लोल करता है तब स्वयं तेरह प्रकारका चारित्र पालके शुद्धोपयोगी होजाता है। तब जो अपूर्व आनंद लाभ करता है उसका वर्णन नहीं होसक्ता है।

४५–स्वानुभव खड्ग।

एक ज्ञानी आत्मा अपने आत्मानुभूति देवीके सामने उसको प्रसन्न करनेके लिये अपने कर्मरूपी पशुओंकी बलि कर रहा है। कर्मोंके संचयको एकत्र करके स्वानुभव रूपी खड्गसे उनको मारता है। जितना२ वह इन कर्मरूपी पशुओंका वध करता है उतना२ इसका स्वानुभव खड्गवत् तीक्ष्ण होता आता है। स्वानुभव खड्गका निर्माण किसी दूसरी धातुसे नहीं होता है। आत्माके उपयोगकी परिणति जब सर्व पर पदार्थोंसे हट करके एक अपने आत्मा ही पर रुकती है तब ही स्वानुभव खड्ग तय्यार होजाता है। इसका बनानेवाला भी वही आत्मा है। खड्ग भी आत्माहीकी परिणति है। इसका चलाना भी आत्माकी परिणति द्वारा होता है। यह स्वसंवेदन ज्ञानसे बनती है। इसी खड्गसे अनंतानुबंधी कषाय व दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंका क्षय करके यह आत्मा क्षायिक सम्यग्दृष्टि महात्मा होता है।

स्वानुभवकी खड्गसे अप्रत्याख्यानावरण कषायको दबा करके एक साधक अणुव्रती होता है। इसी स्वानुभव खड्गकी धारसे प्रत्याख्यानावरण कषायको दबा करके एक साधक साधु होता है। इसी स्वानुभव रूपी खड्गसे संज्वलन कषायका बल घटाकर एक भव्य जीव क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होता है। इसी स्वानुभव खड्गसे चारित्रमोहनीयकी सर्व सेनाको विध्वंश करके यह क्षीणमोह यथाख्यात चारित्रका धारक होता है। स्वानुभव खड्गसे ही क्षीणमोही महात्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्मका क्षय करके अरहंत परमात्मा केवली जिन होजाता है। इसी स्वानुभवसे अरहंत शेष चार अघातीय कर्मोंको क्षय करके सिद्ध परमातमा होजाते हैं।

श्री सिद्धपरमात्मा परम क्षत्रियत्वको प्रकाश करते हुये सदा ही स्वानुभवकी खड्ग लिये रहते हैं जिसके प्रतापसे कोई रागादि भाव, कोई कर्म शत्रु व कोई भी पुद्गल व कोई भी चेतनशक्ति उनका पराभव नहीं कर सकती है। सिद्ध भगवान स्वानुभवके आसनपर बैठते हैं। स्वानुभवका भोजनपान करते हैं। स्वानुभवका अमृतमई स्वाद भोगते हैं। स्वानुभवकी गुफामें ही विश्राम करते हैं। स्वानुभूति तियासे वार्तालाप करते हैं। स्वानुभूतिमें ही रमण करते हैं। स्वानुभवके प्रतापसे वे ध्रुवरूपसे मुक्ति तियाका संयोग करते रहते हैं। धन्य है स्वानुभव। तू ही मोक्षद्वीप है। तू ही मोक्षद्वीप तक जानेवाला जहाज है। तू ही परम देव है। तेरी ही शरण परम संतोषकारक है। जो तेरी शरण लेता है, सदा ही आत्मानंदका भोग करता है।

४६-अद्भुत स्वानुभव महात्म्य ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकल्पोंकी भूमिकाको त्यागकर एक शांतिसागरमें प्रवेश करता है । यह शांतिसागर अपना ही आत्मा है जो ज्ञाता दृष्टा अविनाशी अमूर्तीक आनंदमय परम वीतराग असंख्यात प्रदेशी अपने शरीरभरमें भरा है । इसमें आनंदामृतरूपी जल भरा है । जो कोई इस अपने ही शांतिसागरमें मगन होजाता है वह स्वानुभवको पालेता है और परमानंदका भोग करता है ।

इस स्वानुभवमें न मनका कोई विचार है न वचनोंका प्रयोग है न कायका व्यापार है । मन वचन कायसे पर होकर जो कोई आप आपमें ठहरता है वह स्वानुभवको पाता है । स्वानुभव कर्त्ता बड़ा रौद्र परिणामी होजाता है । उसके वीतराग भावरूपी शस्त्रोंसे दीर्घकालसे साथमें चले आए हुए कर्मशत्रुओंका संहार कर दिया जाता है । किसी भी शत्रुकी ताकत नहीं है जो इसके वीतराग भावरूपी शस्त्रके सामने ठहर सके । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय चारों ही घातीय कर्म कृश होते होते बिलकुल ही लोप होजाते हैं । स्वानुभवमें बड़ी शक्ति है । यही कर्मशैलको चूर्ण करनेको वज्रके समान है । स्वानुभव सम्यग्दृष्टीको हाथ लगता है । इसी अमोघ शस्त्रसे वह कषायोंको शमन व क्षय करता हुआ बढा चला जाता है । और शीघ्र ही अरहंत परमात्मा होकर सिद्ध होजाता है । स्वानुभव करनेवालोंको यह विकल्प बिलकुल भी नहीं होता है कि मैं बद्ध हूं व मुक्त होजाऊँगा । बंध व मोक्षकी कल्पना व्यवहार है । स्वानुभवमें बंध व मोक्षकी चिन्ता नहीं है । यहां तो

श्रद्धापूर्वक शुद्धात्माके ज्ञानमें मगनता है। यहां तो स्वरूप संवेदन है। यहां तो एक आत्माके सिवाय कोई द्रव्य नहीं है तथापि अनुभवकर्ताको यह विचार नहीं होता है कि मैं आत्मा हूं। वह तो उसी तरह आत्म वस्तुके स्वाद लेनेमें लीन है, जिसतरह भ्रमर कमलके भीतर लय होजाता है।

स्वानुभवमें रत्नत्रय धर्म है, स्वानुभवमें उत्तमक्षमादि दश धर्म हैं, स्वानुभवमें ही अहिंसा धर्म है, स्वानुभवमें ही तप है, स्वानुभवमें ही ध्यान है, स्वानुभवमें ही निर्वाण है, स्वानुभवमें ही शय्या है, स्वानुभव ही बिछौना है, स्वानुभव ही ओढनेकी चादर है, स्वानुभव ही शयन है, स्वानुभव ही स्वप्न है, स्वानुभव ही जागृत अवस्था है, स्वानुभव ही ग्रन्थ है, स्वानुभव ही ग्रन्थ पठन है, स्वानुभव ही ग्रन्थ पाठक है, स्वानुभव ही पत्र है, स्वानुभव ही पत्र लेखक है, स्वानुभव ही कलम है, स्वानुभव ही स्याही है, स्वानुभव किला है, स्वानुभव किलेका निवासी है, स्वानुभव भोजन है, स्वानुभव ही भोजन कर्ता है, स्वानुभव पानी है, स्वानुभव ही पानी पीनेवाला है, स्वानुभव ही द्रव्य है, स्वानुभव ही द्रव्यका स्वामी है, स्वानुभव ही दर्पण है, स्वानुभव ही उससे देखनेवाला है। स्वानुभवकी अपूर्व महिमा है। स्वानुभवके भी॥ जो संतोष मानता है वही सच्चा ज्ञानी है, वही तत्वज्ञानी है, वही गुरुप्रसादका भोक्ता है।

४७—सच्चा महावीर दर्शन।

ज्ञाताद्रष्टा एक महात्मा जब श्री महावीर प्रभुका दर्शन करना चाहता है तब वह कभी तो कुंड ग्राम जाता है जहां प्रभुका जन्म

स्थान है, कभी तपोवनमें जाता है जहां प्रभुने दीक्षा ली थी, कभी जृंभिगा ग्राममें ऋजुकूला नदीके तटपर जाता है जहां प्रभुने केवलज्ञान प्राप्त किया था, कभी श्री सरोवरके मध्यमें पावापुरीके मोक्ष-स्थानको भक्तिपूर्वक जाकर वन्दना करता है और बड़े गौरसे देखता है कि कहीं श्री महावीर प्रभुका दर्शन मिल जावे। परन्तु इन चर्म-चक्षुओंसे कहीं भी श्री महावीर भगवानका दर्शन नहीं मिलता है। श्री महावीरस्वामी अब शरीरमें नहीं हैं जो चक्षुऐं उनके शरीरको देखकर उनका दर्शन पासकें। अब तो वे शरीर रहित, कर्म रहित सिद्ध परमात्मा हैं। उनका दर्शन चर्मचक्षुओंसे कैसे होसक्ता है? यदि उनकी स्थापना रूप मूर्तिको देखा जावे तो उसमें भी जड़मई वीतरागताका नकशा दीखता है। महावीर प्रभुका साक्षात्कार नकशा दीखता है। महावीर प्रभुका साक्षात्कार नहीं होता है। तब श्री महावीर भगवानका दर्शन कैसे हो सक्ता है?

तत्वज्ञानी गणधरोंने कहा है कि जो अपने आत्माको देखता है वह परमात्माको देखता है, जो अपने आत्माको जानता है वह परमात्माको जानता है, जो अपने आत्माका अनुभव करता है वह परमात्माका अनुभव करता है। तत्वज्ञानी महात्माओंका यह कथन ठीक है। हरएक आत्मा स्वभावसे श्री महावीर परमात्मारूप ही है। श्री महावीर भगवानकी आत्मामें और हमारी आत्मामें व हरएक आत्मामें कोई अंतर नहीं है, हरएकका स्वभाव बराबर है। इसलिये हमें यदि श्री महावीर परमात्माका दर्शन करना है तो हमें अपने ही आत्माका ही दर्शन करना होगा, अपने ही आत्माका ज्ञान प्राप्त

करना होगा, अपने ही आत्माका अनुभव करना होगा। जिसने स्वानुभव प्राप्त करके अपने आत्माका दर्शन कर लिया उसने श्री महावीर भगवानका साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लिया।

द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि, नोकर्म शरीरादि इन सबसे उपयोगको हटाकर व सर्व पर पदार्थोंसे मुँह मोडकर जब उसे अपने ही आत्माके गुणोंके मननमें उलझाया जाता है तब यकायक जब उपयोग आत्माकी विश्रांति प्राप्त करता है तब, यकायक स्वात्मानुभव प्राप्त होजाता है। उस समय श्री महावीर भगवानके दर्शनसे जो अपूर्व आनंद प्राप्त होता है वह वचन व मनसे अगोचर केवल स्वानुभवगम्य है।

४८–निजात्माकी यात्रा।

एक भक्त ज्ञानी आत्मा श्री महावीर भगवानकी भक्ति करनेके लिये उत्सुक होरहा है। वह जब विचारता है तो उसे कहीं भी महावीर भगवानके दर्शन नहीं होते हैं। वह जानता है कि वे इस समय सिद्धालयमें विराजमान हैं। तथापि उसको यह ज्ञात है कि सर्व ही आत्माएं सिद्ध व संसारी स्वभावसे समान हैं। मेरी आत्मामें भी वे ही गुण हैं, वे ही स्वभाव हैं–जो श्री महावीर परमात्माके भीतर हैं। तब फिर श्री महावीरस्वामीका दर्शन करनेके लिये मैं अपने आत्माको ही क्यों न देखूं। बस, यह अपना उपयोग अन्तर्मुख करता है, निज आत्मामें ही एकतानता कर लेता है, सर्व जगतकी आत्माओंको सर्व ही पुद्गलोंसे, परमाणु व स्कन्धोंसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा असंख्यात कालाणुओंसे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंसे, रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे, शरीरादि नोकर्मोंसे, सर्व

स्त्री पुत्रादिसे, सर्व देव, नारक, तिर्यंच मानवोंसे उपयोगको हटा लेताहै।

जब अपने केवल शुद्ध आत्मामें श्रद्धापूर्वक उपयोग जम जाता है तब अपने ही शुद्धात्माके आनन्द गुणका स्वाद आजाता है, प्रतीतिमें शुद्धात्माका साक्षात् दर्शन होजाता है. स्वानुभव जग जाता है। यही श्री महावीर भगवानका साक्षात् दर्शन है। निजात्माका दर्शन करना ही सर्व सिद्ध क्षेत्रोंकी यात्रा करना है। आत्माका निर्वाण क्षेत्र आत्मा ही है। निर्वाणकांडमें वर्णित श्री गिरनार, सम्मेदशिखर, पावापुर, मंदारगिरि, कलाश, गजपंथा, मुक्तागिर, सिद्धवरकूट, बड़वानी, तारङ्गा, सोनागिरि, कुंथलगिरि आदि अनेक भूमियां हैं जिनको निर्वाणक्षेत्र कहते हैं परन्तु वास्तवमें सर्व ही सिद्ध प्राप्तोंका निर्वाणक्षेत्र उनका ही आत्मा है, जो मेरे ही आत्माके समान है।

अतएव निजात्माका दर्शन व पूजन व निजात्माकी यात्रा ही सर्व निर्वाण प्राप्त सिद्धोंकी यात्रा है। अतएव मैं सर्वसे मुख मोड़, एक अपने ही आत्मासे नाता जोड़ उसीमें जमकर सर्व पर भावोंको छोड़, कर्मोंके बन्ध तोड़ आप ही मुक्ति-सुन्दरीका नाथ होकर परमानन्दका लाभ कर रहा हूं।

४९-सच्ची दीपमालिका।

एक ज्ञानी आत्मा दीपमालिका पर्व मनानेके लिये तत्पर हुआ है। वह ज्ञान दीपका जलाना ही दीपमालिकाका प्रकाश समझता है। इसलिये वह अपने ही उपयोगके विशाल क्षेत्रमें आत्मज्ञानका दीपक जलाता है। यह दीपक भेदविज्ञानके तेलसे सम्यग्दर्शनरूपी पात्रमें स्वस्वरूपाचरण चारित्रकी बत्ती द्वारा जलाया जाता है। इस दीपकके प्रकाशको स्वानुभव प्रकाश कहते हैं।

इस दीपकमें सिवाय आत्माके स्वभावानुभवके कोई पर अनुभवका अंधकार नहीं है। यहां आत्मा आत्मारूप ही प्रगट हो रहा है। आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मा ही सम्यक्चारित्र है। न यहां कोई रागादि भावोंका तम है, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंका मैल है, न शरीरादिका संयोग है। इस आत्मज्योतिमई दीपकमें परम वीतरागता है, परम निर्विकारता है। इसके सामने जगतके पदार्थ न इष्ट हैं न अनिष्ट हैं। सर्व ही अपने२ गुण पर्यायोंसे कल्लोल कर रहे हैं। परम समदर्शित्वका झलकाव है। जैसा इसने अपने भीतर अपूर्व ज्ञान दीप जलाया है वैसा ही यह शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे सर्व ही प्राणियोंकी उपयोग भूमिकामें अपनी सूक्ष्म भेद विज्ञानकी विजलीके द्वारा ऐसे ही दीपकको जला हुआ देखता है। सर्व विश्वकी आत्माओंमें एकसा दीपक जल रहा है। सर्व विश्व अनंतानन्त आत्माओंसे व्याप्त है। सबमें ही एकसा ज्ञान दीप प्रकाशित है। सर्व विश्व ही अद्भुत ज्ञान दीपका प्रकाश स्वरूप दीख रहा है—अपूर्व शोभा है।

इस दीपमालिकाकी शोभाके सामने पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पांच द्रव्योंका सर्व प्रकाश उसी तरह छिप गया है जैसे सूर्यके प्रकाशमें चंद्रमा व नक्षत्र व तारागण रहते हुए भी अप्रगट रहते हैं। ऐसी दीपमालिकाको जलाकर जो भव्य जीव उत्सव मनाते हैं वे ही सच्ची निर्वाण पूजा करते हैं। वे ही सच्चे श्री महावीर परमात्माके भक्त हैं। वे ही जैनी हैं। वे ही सम्यग्दृष्टी हैं। वे ही अंतरात्मा हैं। वे ही परम रसके पीनेवाले परमानन्दके भोक्ता हैं।

सहजानन्द ।

१–सुख आत्माका स्वभाव है।

एक संसारी प्राणी अनादिकालसे आनंदकी खोजमें हो रहा है। आकुलित होकर इन्द्रियोंके विषयोंमें पुनः पुनः गमन करता है। इन्द्रिय भोग करता है। क्षणिक तृप्ति पालेता है। परन्तु द्विगुणित त्रिगुणित शतगुणित सहश्रगुणित लक्षगुणित कोटिगुणित तृष्णाको बढा लेता है। जितना जितना इच्छित विषय पाकर भोग मग्न होता है उतना २ अनंत गुणित तृष्णाकी दाहको बढा लेता है। शरीराश्रित जीता हुआ एक दिन शरीरको छोड़ देता है परन्तु दाहकी आतापको किंचित् भी शमन नहीं कर पाता है। फिर शरीरमें जाकर जितनी इन्द्रियें पाता है उतनी इन्द्रिय संबंधी विषय चाहकी तृप्तिके करनेमें प्रयत्न करता है। वहां भी जितना २ विषय सुख भोगता है उतना २ अधिक तृष्णावान होजाता है। इस तरह घोर तृष्णामें फंसा हुआ अनंत जन्म यह जीव धारण कर चुका है परन्तु आजतक सहजानन्दको जो अपने ही पास है न समझकर न उसे पाकर घोर कष्टोंको ही सहन करता चला आ रहा है।

इस चिर दुखित प्राणीका भवाताप शमन करनेके लिये श्री गुरु परमोपकारी होकर धर्मका उपदेश देते हैं और बताते हैं कि सच्चा सुख सहजानन्द है, वह कहीं बाहर नहीं है, हरएक आत्माका स्वभाव है। आत्मामें जैसे ज्ञान गुण है चारित्र गुण है वैसे सुख गुण भी है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके सम्बन्धमें आत्मीक गुणोंपर

आवरण होरहा है इसलिये बहुतसा ज्ञान अज्ञान रूप होरहा है। चारित्र गुण विकृत होकर क्रोध, मान, माया, लोभका विकार दिखलाई देरहा है। इसी तरह सुख गुणका विभाव परिणमन रूप यह इन्द्रिय सुख दुःख झलक रहा है। यदि आत्मामें ज्ञान गुण न होता तो अज्ञान भी न होता। यदि चारित्र गुण न होता तो क्रोधादि विकार भी न होता। यदि सुख गुण न होता तो इन्द्रिय सुख दुखका भान भी नहीं होता। जैसे अज्ञान दुःखरूप है, क्रोधादि भाव आकुलता रूप है वैसे ही इन्द्रिय सुख दुःख महा आकुलता रूप और कष्टमय है। जैसे अज्ञानके स्थानमें ज्ञान सुखकारी है, क्रोधादिके स्थानमें वीतरागता हितकारी है वैसे इन्द्रिय सुख दुःखके स्थानमें आत्मीक सहजानंदका अनुभव परम सुखकारी व संतोषप्रद है। अतएव बुद्धिमान मानवका कर्तव्य है कि जिस तरह हो इस सहजानंदके पानेका उपाय करे।

जैसे मीठे पानीके पीनेसे मीठेपनका स्वाद आता है, मिश्री खानेसे मिश्रीका स्वाद आता है, लवणको खानेसे लवणका स्वाद आता है, इमली खानेसे इमलीका स्वाद आता है, वैसे आत्माकी तरफ उपयोग लगाकर उसका ध्यान करनेसे सहजानन्दका स्वाद आता है। सहजानन्द अपने ही पास है, उसे कहीं बाहरसे नहीं लेना है। जब यह आत्मा रत्नत्रयमई भावमें परिणमन करता है, तब इसे अवश्य पालेता है। मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूं। परके संयोगसे रहित हूं, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूं, सर्व रागादि विकारोंसे शून्य हूं, अमूर्तीक हूं, परम आनन्दमई हूं। यही श्रद्धान व ऐसा ही ज्ञान व

ऐसा ही अनुभव रत्नत्रय धर्म है। स्वानुभवमें रत्नत्रयका लाभ है, अतएव मैं सर्व भवद्वंदोंको त्यागकर व निश्चिन्त होकर सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर निज रत्नत्रय स्वभावमें तिष्ठ जाता हूं तब जिस सहजानन्दका लाभ करता हूं वह वचन अगोचर, मन अगोचर है। वह तो केवल स्वानुभवगम्य ही है।

२—अमृत रसायन।

एक ज्ञानी आत्मा अनादिकालसे तृषित अपने आत्माको ऐसा अमृत पिलाता है जिससे सहजानंदका स्वाद आकर परम तृप्ति हो जाती है। वह अमृत वास्तवमें अमर करनेवाला है, आत्माके भव भ्रमणको मिटानेवाला है। उसको निश्चल अकम्प सिद्धासन पर विराजमान करनेवाला है। उसको निरंतर ज्ञान दर्शन द्वारा सर्व ज्ञेय व ध्येयको यथार्थ झलकानेवाला है। वह अमृत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रमई अभेद रत्नत्रयसे निर्मापित है। जहां शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा ही सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा ही सम्यक्चारित्र है।

जहां एक शुद्धात्माके सिवाय अन्य किसी पदार्थका झलकाव आत्मामें न हो, शुद्धात्मा भी नाम व गुणोंके भेद विकल्पसे रहित हो, केवल स्वानुभवगम्य मात्र कुछ हो, जहां मन, वचन, कायकी भी पहुँच न हो, वहीं यह अद्भुत अमृत वहता है। इस अमृतमें जो आनंदमय स्वाद है उसकी उपमा किसी भौतिक रसके स्वादसे नहीं होसक्ती।

इस अमृतके पान करनेसे यह कभी कम नहीं होता। निरंतर

भी इसको पिया जावे तौभी यह कम नहीं होता है । यह अमिट अखण्ड अपूर्व आत्माकी सम्पत्ति है । इसे कोई छीन नहीं सक्ता, ले नहीं सक्ता, मांग नहीं सक्ता, इसे कोई अपने चर्म-चक्षुओंसे देख नहीं सक्ता, इसे कोई चर्मकरोंसे स्पर्श नहीं कर सक्ता, इसे कोई जिह्वासे स्वाद नहीं ले सक्ता, इसे कोई नाशिकासे सूँघ नहीं सक्ता। इसके भीतर कोई शब्द नहीं है जिसे कानोंसे सुना जासके। यह अमृत पांच इन्द्रिय और मनसे अगोचर है, आत्मामें ही है। आत्मासे ही आत्मा आप ही इसका अपूर्व स्वाद लिया करता है। जिस समय इसके सहजानंदमें मगन होता है उस समय यह आत्मा एक अद्वैत भावमें तन्मय होजाता है।

इसके अनुभवमें सिवाय आत्मीक रसके और कोई रस नहीं आता। इस रसास्वादसे अनादि तृष्णाकी दाहको शमन कर देता है। इन्द्रिय विषयवासनाके आतापको मिटा देता है। भौतिक संपत्तिकी प्राप्तिकी चाहको शमन कर देता है।

इस सहजानंदमें ही ईश्वरत्व है, प्रभुत्व है, जिनेन्द्रत्व है, आत्मत्व है, शंकरत्व है, विष्णुत्व है, ब्रह्मत्व है, इसीमें परमात्मत्व है, महात्मत्व है, अंतरात्मत्व है, यही शुद्धतत्व है, अमरत्व है, अजरत्व है, यही सारतत्व है, यही शुद्धत्व है, सिद्धत्व है, शिवतत्व है, यही समयसार है, अविकार है, स्वभाधार है, यही गुणाकर है, रत्नाकर है, सुखाकर है, यही मनमोहन है, भवरोचन है, निजशोधन है, यही पवित्र जल कर्ममल धोवन है, यही परमात्म यौवन है, यही अविनाशी मंगल है, यही दुःख जाल विध्वंसन है, यही शांतभाव प्रकटन है,

यही वीतराग भावका निदर्शन है, यही तप है, जप है, यम है, नियम है, ध्यान है, ज्ञान है, संवर है, निर्जरा है, मोक्ष है, यही सार जीवत्व है, यही सुखकरंडत्व है, यही अमृत रसायन है। इसका पीनेवाला सदा ही सहजानन्दका भोग करता हुआ जीवन्मुक्त बना रहता है।

३–अमृतमई समुद्र।

ज्ञाताद्दष्टा एक आत्मा जब अपने अंतरङ्ग लोककी तरफ दृष्टि-पात करता है तब उसे विदित होता है कि उसके पास एक ऐसा अमृतका समुद्र है कि उसके भीतर गोता लगानेसे यह आत्मा कर्म-कलंकसे छूटकर भवभ्रमणसे रहित होकर सदाके लिये अजर अमर होजाता है। उस समुद्रकी निकटता ही आनन्दप्रद है। उसका मज्जन तो सर्व भवाताप शमनकारक है। उसकी कुछ बिन्दुओंका पान परम स्वाद प्रदान करता है। ऐसे अमृतमय समुद्रका पता उसको नहीं लगता है जिसकी दृष्टि बहिरंग लोकमें चक्कर लगा रही है, जो शरीरकी शोभामें व आराममें ही उपयुक्त है, जो शरीरके सम्बन्धी चेतन व अचेतन पदार्थोंकी ही तरफ लवलीन है। जिसका रात दिन परके साथ ही व्यवहार है, लेनदेन है। जो क्षणभरके लिये भी अपने अंतरङ्ग लोकमें प्रवेश नहीं करता है। अपने ही पास रहते हुए भी बहिरात्माको अपने आनंद–समुद्रका पता नहीं लगता है। मोहकी अंधियारीमें वह ऐसा अंध बन जाता है कि पास ही रत्न है पर उसे नहीं दिखता। इस मोहकी अंधियारीके मेटनेका उपाय भेद विज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश है। निश्चयनयकी पूर्व दशासे

इस सूर्यका उदय होता है। निश्चयनय दिखला देता है कि आत्मा अनात्मासे बिलकुल भिन्न है। न आत्माके स्वभावमें रागादि भावकर्म हैं, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म हैं। आत्मा परमात्मारूप है। अपने अनंतगुणोंका समुदायरूप एक द्रव्य है। इसमें शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य, शुद्ध सुख, शुद्ध सम्यक्त, शुद्ध चारित्र, शुद्ध स्वानुभूति विराजमान है। यह सहजानंदका सागर है। निश्चयात्मक भेदविज्ञानका वारवार अभ्यास करनेसे उपयोगमय दृष्टिकी तरफसे बहिरंगलोक हटने लगता है, अंतरंगलोकका झकाव होने लगता ह।

दीर्घकालके अभ्याससे यह प्रतीति जम जाती है कि मैं आत्मा हूं व मैं ही सहजानन्दका सागर हूं। प्रतीति व ज्ञान होनेपर चारित्रकी आवश्यक्ता है। यह सहजानन्द गवेषी महात्मा एकांत सेवन करता है। निर्जन वन, उपवन, मंदिर, मठ, गुफा, पर्वत आदिका आश्रय लेता है। एकाकी बाहरसे होकर भीतरसे एकाकी होता है। अपनेको औदारिक, तैजस, कार्मण शरीरसे जुदा जानता है। साथ ही उन शरीरके अंगप्रत्यंगोंसे व उनके कार्योंसे भी भिन्न करता है। वारवार भेदविज्ञानके प्रतापसे अपने शुद्ध स्वभावी आत्माकी श्रद्धापूर्वक झांकी करता है। मानों परम प्रभुके दर्शन ही करता है। दर्शन करनेका प्रयास करते ही जैसे ही दृष्टि निज आत्मारामके स्वभावपर एकतान होजाती है, सहजानन्द समुद्र दिख जाता है। यह उसके निकट जाता है और परम उत्साहके साथ जैसे ही उसके शुद्ध जलमें स्नान करते हुए उसके स्वादको

लेता है वैसे ही वह सहजानन्दका भोक्ता होकर अनिर्वचनीय संतोषको पाकर तृप्त होजाता है ।

४–आनन्दमई कूप ।

एक ज्ञानी आत्मा पांचों इन्द्रियोंके विषयोंको भोगतेर दीर्घकाल विता चुका फिर भी अपने भीतर देखता है तो तृष्णा पहलेसे असंख्यगुणी मौजूद है। यद्यपि अवस्था वृद्ध होगई है। इन्द्रियोंके भीतर भोगकी शक्ति क्षीण होगई है । तृष्णाका रोग अति प्रचुरताको प्राप्त है । यकायक मरणका समय आ जाता है । तृष्णाकी वासनामें मरकर वासनानुसार अशुभ योनिमें चला जाता है । फिर वहां तृष्णाके शमनार्थ इन्द्रिय विषयभोगके कारणोंको मिलानेमें रातदिन लगा रहता है । इसी तरह अनंत जन्म पाए परन्तु आजतक तृष्णाका रोग नहीं मिट सका । वास्तवमें बहिरात्मापना प्राणीको दुःखदाई है । बहिरात्मबुद्धिसे इस अज्ञानीको सहजानन्दका पता नहीं है । यह सहजानद अपना ही भंडार ह, अपने पास अटूट भरा है । इसको निरन्तर भोगा जावे तौ भी यह कम नहीं होता है । इसे कोई बिगाड़ नहीं सक्ता, नाश नहीं कर सकता, इसे कोई छीन नहीं सक्ता, इसके भोजनमें किसी भी परवस्तुके आलम्बनकी जरूरत नहीं है । यह स्वाधीन आत्माकी निज सम्पत्ति है । जो यह पहचानता है कि मैं सहजानन्दकी अविनाशी अखण्ड शक्तिका धनी हूं, यही सच्चा सुख है । इसी परमामृतके पानसे विषम तृष्णाका विष शमन होता है । वही अन्तरात्मा है, महात्मा है, सम्यग्दृष्टी है, सम्यग्ज्ञानी है, वही मोक्षमार्गी है, वही संसारसे वेरागी है, वही भव

श्रमण त्यागी है, वही परम निराकुल धामका ज्ञाता है, वही जगतमें जलमें कमलके समान लिप्त रहता है, वही कर्मोंके उदयको उदयरूप जान लेता है। उनको ज्ञाता दृष्टा होकर देखता है। जब ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्मोंका उदय होता है तब वह उनके मंद या तीव्र फलको लता, दारू (काष्ट), अस्थि व पाषाणके तुल्य जान लेता है।

जब सातावेदनीय आदि पुण्यरूप अघातीय कर्मोंका उदय होता है तब उसे गुड़, खांड, शर्करा (मिश्री) व अमृत समान जान लेता है। जब असातावेदनीयादि पाप प्रकृतियोंका उदय होता है तब उसे नीम, कांजीर, विष, हालाहल समान कटुक जान लेता है। जानकर संतोष करलेता है। अपने ही बीजका अच्छा या बुरा फल निपजा है ऐसा समझ लेता है। कर्मोंका उदय तुरन्त नष्ट होजाता है। अतएव इस क्षणिक कर्मके फलमें ज्ञानी हर्ष व विषाद नहीं करता है।

सहजानन्दका पता पानेवाला महात्मा उसी अपने आत्मारूपी कूप पर जाता है। ध्यानकी रस्सीमें उपयोग रूपी लोटेको बांधकर सहजानंदके जलको खींचता है। उसको शुद्ध निश्चयनयके छन्नेसे छानकर निर्मल उपयोग रूपी कटोरेमें भरता है और निर्मल सहजानंदको पीकर जो संतोष पाता है उसका पता ये पौद्गलिक पराधीन मन वचन काय कैसे पा सक्ते हैं? धन्य हैं वे महात्मा जो इस सहजानन्दको पाकर जीवन यात्राका अद्भुत आनन्द लेते हैं।

८-ज्ञानमई सरोवर।

सहजानन्द अमृत है। जो इसे पीता है वह अमर होजाता है। सहजानन्द अपना स्वभाव है। घातीय कर्मोंने इसे दबा रक्खा है। ज्ञानावरणीय कर्मने अनंतज्ञानको, दर्शनावरणीय कर्मने अनन्तदर्शनको, मोहनीय कर्मने सम्यक्त और वीतराग चारित्रको, अंतराय कर्मने अनन्तवीर्यको दवा रक्खा है। जब अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तवीर्य व शुद्ध सम्यक्त व शुद्ध चारित्र प्रगट होजाते हैं तब शुद्धात्माका साक्षात् दर्शन व ज्ञान व अनुभव सदा ही परम तन्मयताके साथ हुआ करता है। राग, द्वेष, मोहकी कल्लोलें बन्द होजाती हैं। निश्चल निर्मल समुद्रकी तरह जब आत्मा अक्षोभ व निराकुल होजाता है तब इसके भीतर शुद्ध सहजानंद अनंतसुखके नामसे प्रकाशित होजाता है।

अरहंत परमात्माके पदकी प्राप्तिके पहले अल्पज्ञानी छद्मस्थ सम्यग्दृष्टी भेदविज्ञानीको भी श्रुतज्ञानके आधारसे भावश्रुतज्ञानमई आत्मीक अनुभव जागृत होता है तब ही सहजानन्दका स्वाद आता है। इस सहजानन्दके स्वादसे आत्माको परम पुष्टता प्राप्त होती है। आत्माके साथ संयोग प्राप्त कर्मका मैल भी कटता है। वास्तवमें सहजानन्द ही मोक्षमार्ग है। जहां शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र होता है वहां ही शुद्धात्मानुभव होता है तथा वहीं सहजानंदका झलकाव होता है। यही स्वाधीन आत्मीक सुख है।

सहजानन्द एक ऐसा गंभीर सरोवर है जिसके भीतर गोता लगानेसे ऐसी शांतिमय निद्रा आती है कि सहजानंद योगीके भीतर

कुछ भी कल्पनाएं नहीं रहतीं, कुछ तर्क नहीं रहते, कुछ भी चिंताएं नहीं रहतीं, कुछ भी रागद्वेष मोह नहीं रहते। कुछ भी वचनोंके प्रवाह नहीं वहते। कुछ भी कायकी चेष्टा नहीं होती। द्रव्य छः हैं—उनके क्या नाम हैं, उनके क्या गुण हैं, उनकी क्या२ पर्यायें होती हैं। मैं हूं या नहीं, मैं शुद्ध हूं या अशुद्ध हूं, एक हूं व अनेक हूं वह सब भी भाव नहीं रहते। वहां तो एक अद्वैत वचनातीत भाव प्रगट होजाता है, जो ज्ञानी केवल मात्र अनुभवगम्य है, मन, वचन कायके द्वारा जानने योग्य नहीं है। जहां अद्वैतानुभव है वहीं सहजानन्द है।

६—समता सखी।

ज्ञान स्वरूपी आत्मा अनादिकालके अज्ञानके प्रतापसे अपने भीतर भरे हुए सहजानन्दको भूले हुए है। और विषयोंके आतापसे संतापित होकर उसके शमनके लिये यथासंभव इन्द्रियोंकी चाहको तृप्त करनेकी खूब चेष्टा करता है, परन्तु सफलताको नहीं पाता हुआ निराश होकर वार वार जन्म मरण करता हुआ घोर आकुलतामय अपने कालको गंमाता रहता है। अज्ञान वास्तवमें एक ऐसा अंधेरा है जिसमें ज्ञान चक्षु रहते हुए भी सुमार्ग और कुमार्गका पता नहीं लग पाता है। श्री गुरुके प्रतापसे जब सच्चा धर्मोपदेश मिलता है—भेदविज्ञानका पता पाजाता है, जिसमें झलकाया जाता है कि यह आत्मा परमात्माके समान स्वभावधारी ज्ञान, दर्शन वीर्य सुखमय अविनाशी अमूर्तीक है। सर्व रागादि भाव कर्म, सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, सर्व शरीरादि नोकर्म पुद्गल

जड़ अनात्माके विकार हैं । आत्माका स्वभाव इनसे शून्य है। यह तो वास्तवमें अनुभवगोचर पदार्थ है। जो आत्मस्थ होता है तथा अपने उपयोगको सर्व परसे हटाता है और आत्मामें ही उसे ठहराता है उसीको ही आत्माके स्वभावका पता लगता है । इस भीतरी सूक्ष्म तहके भीतर पहुंचनेका मार्ग पुनः पुनः आत्मा व अनात्माका मनन है । अर्थात् भेदविज्ञानका अभ्यास है । इस तरह सुनकर जो प्रतीति लाता है और वार वार मनन करनेका अभ्यास करता है उसको आत्माका अनुभव होजाता है ।

आत्मानुभवके होते ही आत्मा एक अपूर्व आनंदको पाता है। इसे ही **सहजानन्द** कहते हैं । यह कोई परद्रव्यका गुण नहीं है आत्माका ही गुण है । इसीसे उसको स्वाधीन कहते हैं व आत्माके साथ रहनेवाला कहते हैं । समता सखीके प्रतापसे और एकाग्रता रूपी महिलाकी कृपासे शुद्धात्माका दर्शन होकर सहजानन्दका लाभ होता है । समता सखी वहीं आनकर खड़ी होजाती है जहां व्यवहार नयको गौणकर निश्चयनयका आलम्बन लिया जाता है और इस जगतको हलन चलन रहित, परस्पर कार्य रहित देखा जाता है। जगत छः द्रव्योंका समुदाय है । सर्व द्रव्योंको जुदे जुदे अपने स्वभावमें देखनेकी दृष्टि निश्चयनय है । सर्व ही क्रिया रहित झलकते हैं । सर्व पुद्गल परमाणु रूप व सर्व जीव शुद्ध सिद्ध रूप मालूम पड़ते हैं । अनंतानंत जीव बिना किसी भेदके बराबर गुणधारी—आकारधारी नजर आते हैं । तब शत्रु मित्र, बंधु भ्राता, स्वामी सेवकका सर्व विचार बंद होजाता है । सर्व आत्माएँ जब समान

दीखती हैं तब यकायक राग द्वेष मोह मिट जाता है और समता सखी सामने आ खड़ी होती है। इस सखीके आनेपर एकाग्रता रूपी महिला अपना प्रेम बढ़ाती है और यह आत्मा भी उसीकी तरफ उपयुक्त होजाता है। कुछ देर तक द्वैत भावका विकल्प रहता है। फिर थोड़ी देरमें द्वैत भाव भी मिट जाता है। एक अद्वैत भाव प्रकाशमान होजाता है बस, फिर क्या है। सहजानन्दका श्रोत वह निकलता है और यह उस आनंदमें मगन होकर जो तृप्ति पाता है वह बिलकुल बचन अगोचर है।

७–परमप्रिय भोजन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संसारकी चिंताओंसे गृसित होकर बहुत ही दुखित है। रातदिन आकुलताओंके जालमें तडफा करता है। निकलनेका कोई उपाय नहीं बनता है। सुखका आकांक्षी होकर यह भटकता फिरता है। उसे सच्चे सुखका पता नहीं मिलता है। श्री गुरुने कृपा करके बताया कि–हे भव्य जीव! क्यों घबडाता है, यह सच्चा सुख तेरे ही पास है, तेरे ही आत्माका स्वभाव है। तू यदि अपने भीतर खोजेगा तो तुझे अवश्यमेव प्राप्त होगा। जो श्री गुरुने कहा कि–हे भव्यजीव! तेरे आत्माके भीतर कई परदे पड़े हैं। एक एक परदा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बना हुआ कार्माण शरीर है, दूसरा तैजसवर्गणाका बना हुआ तैजस शरीर है, तीसरा आहारक वर्गणाका बना हुआ औदारिक शरीर है।

राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया आदि विभाव भाव

आत्माका स्वभाव नहीं है। ये उसी तरहके भाव हैं जैसे मिट्टीसे मिले हुए पानीमें गंदलापन दीख पड़ता है। गंदलापन पानीका स्वभाव नहीं है उसी तरह राग द्वेषादि विभाव भाव आत्माका स्वभाव नहीं है। जो कोई अपनी सूक्ष्म दृष्टिको इन तीनों शरीरोंके बाहर, रागादि भावोंके बाहर पांच इन्द्रिय तथा मनके द्वारा होनेवाले खंडज्ञानके भेदोंसे बाहर लेजाता है वही अपने आत्माके स्वभावके भीतर प्रवेश कर आता है। प्रवेश होते ही सहजानन्दका स्वाद आजाता है।

सहजानन्दका लाभ परमामृतका लाभ है। इसी आनन्दको सिद्ध भगवान भी लेते हैं, इसीको अरहन्त भगवान भी लेते रहते हैं। इसीका भोग सर्व साधुजन करते हैं। सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी जीवोंका यही परमप्रिय भोजन है। उनकी तृप्ति इस सहजानन्दके भोगसे ही होती है। वे गृहस्थावस्थामें रहते हुए भी व पांचों इन्द्रियोंका भोग करते हुए भी इन्द्रिय सुखसे तृप्ति नहीं मानते हैं। पूर्व बद्ध कषायोंके वेगको सहन करनेका आत्मबल न पाकर उन कषायोंके आधीन हो उस सम्यग्ज्ञानीको विषयभोग करना पड़ता है, परन्तु वह उसे दुःख ही समझता है। उसकी बुद्धिमें यह विषयसुख विष रूप भासता है। कषायोंकी कालिमाको धोनेका उपाय भी सहजानंदका लाभ है। ज्ञानी सहजानंदका पता पाकर अपनेको सदा ही मुक्त, अबद्ध, अभेद, अमूर्तीक व शुद्ध अनुभव करता है। स्वानुभवके पुनः पुनः अभ्याससे यह ज्ञानी सहजानन्दका पुनः पुनः स्वाद पाता हुआ परम संतोषको पाकर सदा ही प्रसन्न रहता है।

८—साम्य गुफावास ।

एक ज्ञानी आत्मा दीर्घकालसे जिस आनन्दकी खोजमें था उसका पता पाकर परम संतुष्ट होगया है। वह स्वाभाविक आनन्द कहीं बाहर नहीं है। आत्माका ही सहज स्वभाव है। आत्मा अनंतकालसे विषयसुखका लोभी होकर स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुप होकर बारबार विषय सम्बन्धी पदार्थोंकी तरफ जाता है तथा उनका भोग करता है परन्तु तृष्णाकी दाहको शमन नहीं कर पाता है। तृष्णा और अविद्याके कारण ही यह अज्ञानी आत्मा भवभवमें भटकता रहा है। सहजानंदके वियोगसे बहुतसी आकुलताएं सह चुका है। सहजानंद आत्माका निज स्वभाव है। जैसें पानीका स्वभाव मिष्ट है, इमलीका स्वभाव खट्टा है, ईखका स्वभाव मीठा है. नीमका स्वभाव कटुक है, आमलेका स्वभाव कसायला है, घीका स्वभाव चिकना है. रतनका स्वभाव चमकीला है, स्फटिकका स्वभाव निर्मल है, इसीतरह आत्माका स्वभाव आनंदमय है। सहजानन्दका लाभ तब ही होता है जब ज्ञानावरण, दर्शनावरणका ऐसा क्षयोपशम हो जिससे परम सूक्ष्मतत्व आत्माका ज्ञान होसके। अंतराय कर्मका ऐसा क्षयोपशम हो जिससे आत्मबल इतना प्रबल प्रगट हो कि उपयोगको सर्व तरफसे हटाकर आत्मीक स्वभावमें जमाया जा सके। दर्शन मोहनीय कर्मका ऐसा उपशम क्षयोपशम या क्षय हो जिससे निज आत्माकी तरफ दृढ रुचि उत्पन्न हो व यह श्रद्धा हो कि मैं आत्मा हूं, द्रव्य दृष्टिसे सदा एकाकार शुद्धबुद्ध अविनाशी अमूर्तिक हूं, परम सुखका भंडार हूं। चारित्र

मोहनीयका ऐसा क्षयोपशम हो कि सांसारिक सुखसे वैराग्य हो और आत्मीक स्वभावमें रमणका राग हो। ऐसी सामग्रीके संयोग होनेपर जब उपयोग आपसे ही आपमें थिर होता है, पांचों इन्द्रियोंकी ओर नहीं जाता है, मनके संकल्प विकल्पोंसे भी हटता है। इन्द्रियातीत उपयोग ही अतीन्द्रिय आत्मीक सहजानंदका भोग कर सक्ता है।

शुद्धात्माओंके भीतर इस सहजानन्दका सदा भोग रहता है। उनके इस सहजानन्दके भोगमें कोई अंतराय नहीं पड़ता है। क्योंकि कोई भी बाधक कर्म उनके भीतर विघ्न नहीं कर सकते हैं। वहां कर्म मैलका रंच भी सम्बन्ध नहीं है।

एक साधकको उचित है कि वह सहजानंदके भोगके लिये सर्व परिग्रहका त्यागी हो। यथाजातरूपधारी हो। बालकवत् निर्लेप हो। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा परिग्रह त्याग महाव्रतोंका पूर्ण पालक हो। बहुत अधिक सताए जानेपर भी जो क्रोधको शमन किये हुए हो, जिसे क्रोध नहीं पैदा हो, जो मानापमानमें समता रखता हुआ कभी मानके वशीभूत नहीं हो। मायाको जिसने वश कर लिया हो। किसी भी स्वार्थवश कलह करनेका भाव जिसके भीतरसे निकल गया हो, लोभ कषायको ऐसा जीता हो कि पांचों इन्द्रियोंका विषयराग मिटा दिया हो। आवश्यक भोजनादिमें परम संतोष धारण कर लिया हो। ऐसा विषयकषाय विजयी महात्मा साधु जब बाहरसे बहुत ही एकान्त स्थानको सेवन करता है, पर्वतकी गुफा, नदीतट, वन आदिमें बैठता है. जहां मनवोंका शब्द भी नहीं सुन पड़ता है, निश्चल आसनमें तिष्ठ करके भीतरी

सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रमयी निर्विकल्प समाधिमई परम सामायिक-रूप साम्यकी स्वच्छतासे पवित्र गुफामें जाकर विराजता है। इस-तरह आपसे ही आपमें आपके ही लिये आपमेंसे आपको आप ही स्थापित करता है और कर्ताकर्म आदि षट्कारकके विकल्पोंको त्यागता है तब ही यकायक सहजानंदका प्रवाह वह निकलता है और यह साधु उसका धारावाही पान करता हुआ जिस परम संतोषको पाता है वह केवल अनुभवगम्य है।

९—वैराग्य पर्वतारोहण।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके विकारोंको बन्द करके एक आत्माके ही स्वरूपके विचारमें लगा हुआ है। क्योंकि इसको श्रीगुरुने बताया है कि सच्चा सुख आत्मामें ही है। जगतमें छः द्रव्य हैं उनमें धर्म, अधर्म, काल, आकाश, पुद्गल चेतना रहित हैं। मात्र जीव पदार्थ ही चेतना सहित है। जहां चेतनाका विलास है वहीं ज्ञान चेतनाका वास है। ज्ञान स्वभावका अनुभव करना ही सच्चे सुखका स्वाद प्राप्त करनेका उपाय है। प्राणी कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके अनुभवको करते हुए निरंतर रागद्वेष मोह मलीन भावोंका ही स्वाद लेरहे हैं। इसी कारण वीतराग आनंदका स्वाद नहीं आता है। लवण मिश्रित खारे जलके पीनेसे लवणका ही स्वाद आता है, खटाई मिश्रित जलको पीनेसे खट्टेपनेका स्वाद आता है, नीमके कटुक पत्तोंके रससे मिले हुए जलको पीनेसे कटुकताका ही स्वाद आता है। इसीतरह राग सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे रागका, द्वेष सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे द्वेषका, मोह सहित ज्ञानोपयोगके

स्वादसे मोहका, काम सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे कामका, भय सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे भयका स्वाद आता है। निर्मल पानीके पीनेसे जैसे पानीका असली स्वाद आता है वैसे ही वीतरागता सहित ज्ञानोपयोगके स्वादसे आत्माके सच्चे सुखका स्वाद आता है।

सहजानन्द गवेषी इसीलिये सबसे नाता तोडकर एक अपने आत्मस्वरूपसे नाता जोडता है, अपने आत्माको ही सार वस्तु समझता है। अपने आत्माको ही अपना क्रीडावन बनाता है। जिस किसीने सहजानन्दका पता पाया है, सहजानन्द पानेका मार्ग उपलब्ध किया है वही यथार्थमें सम्यक्दृष्टि है, वही श्रावक है, वही साधु है।

जो सहजानन्दको पूर्णपने प्राप्त करनेके लिये कमर कस लेते हैं और यह दृढ़ भावना भाते हैं कि हम सब कुछ कर्मोदयकी आपत्तियोंको सहर्ष सहन कर लेंगे, परन्तु सहजानन्दके पूर्ण लाभके विना कभी भी चैन न ग्रहण करेंगे, वे साधु आत्माके भीतर विश्रांति पाते हुए वैराग्यके पर्वतपर चढ़ते हुए गुणस्थानक्रमसे विरोधी कर्म-शत्रुओंको क्षय कर अर्हन्त परमात्मा होजाते हैं। फिर सिद्धालयमें जाकर सिद्धपदमें ध्रुवतासे निवास करते हुए निरन्तर सहजानन्दका उपभोग करते रहते हैं। एक सत्य खोजीका कर्तव्य है कि वह सत्यका अनुयायी होकर चले और सहजानंदको आपसे अपने ही द्वारा प्राप्तकर अनादि कालीन तृष्णाको शमन कर परम संतोषी होजावे।

१०–स्वात्माराम क्रीड़ा।

ज्ञानदर्शन गुणधारी आत्मा अनादि कालसे अपने ज्ञानदर्शनका लक्ष्य उन पदार्थोंको बना रहा था जिनके भोग करनेसे राग-

भाव द्वारा विषयसुखका भान होता था, परन्तु कभी भी तृष्णाका दाह शमन नहीं कर पाता था। इससे समय समय कोटानुकोटि इच्छाओंके वशीभूत होकर आकुलित होरहा था। परंतु श्री गुरुके प्रतापसे उसको सहजानंदका पता चल गया और यह निश्चय होगया कि यह सहजानंद मेरे ही आत्मामें सर्वांग पूर्ण भरा है। यह मेरे ही आत्माका स्वभाव है। बस इस श्रद्धाके साथ जैसी२ रुचि बढ़ती है यह अपने उपयोगको सर्व परपदार्थोंसे—इन्द्रिय विषयभोगोंसे संकुचित करता है और उस उपयोगको सहजानंदके धनी निजात्माके द्रव्यपर जोडता है। इसे ही योग या ध्यान कहते हैं। आत्मीक ध्यानके प्रकाशसे आत्मस्थ होकर यह ज्ञानी जीव सहजानंदको पालेता है। फिर तो उस निज आनंदमें इसी तरह आसक्त होजाता है जैसे भ्रमर कमलकी वासमें अनुरक्त होजावे।

सहजानंद स्वभावको प्रकाश करनेवाला है, विषयानंद विभावको बढ़ानेवाला है। इस प्रतीतिका झलकाव जिसके भीतर होजाता है वही सम्यग्दृष्टी महात्मा है। यही अनादि भव भ्रमणको मिटानेका पात्र है। भव भ्रमणका कारण विषय सुखका अन्वेषण है। शरीर राग है। पुद्गलका स्वागत है। जहां पुद्गलसे विराग हुआ—अपने जीवत्वसे प्रेम हुआ वहीं भव—भ्रमणका अंत निकट आ ही गया। अपने घरमें विश्राम लेनेका अवसर प्राप्त हो ही गया। मोक्षमार्ग सहजानंदका भोग है। मोक्ष भी सहजानंदका निरंतर भोग है। दोनोंहीकी एक जात है। दोनोंमें ही साध्यता है। जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है। जितनी२ वृत्ति पर पदार्थसे रुकती जाती है

उतनीर वृत्ति निज पदार्थपर जमती जाती है। यही गुणस्थानारोहण है। यही समताके मार्गपर चर्चा करना है। यही वीतराग विज्ञानताका झलकाव है। विवेकी जीव सहजानंदके लाभके लिये निरंतर स्वात्मारामसें क्रीड़ा करता हुआ परम संतोषी व परम तृप्त बना रहता है तथा अपनेको जीवनमुक्त अनुभव करता है।

११–समता सखीका नृत्य।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित होकर जब विचार करता है तब उसको पता चलता है कि वह दीर्घकालसे इस संसार-समुद्रमें गोते खारहा है और सुखके लिये अपनी लालसा लगाए हुए है परन्तु उसे इन्द्रियजनित अतृप्तिकारी क्षणिक सुख ही प्राप्त हुआ जिससे इस जीवको कभी तृप्ति नहीं होसक्ती। सच्चा सुख अपने ही आत्माका स्वभाव है सो इसके जाननेमें, परिचयमें तथा अनुभवमें नहीं आया।

श्री गुरुकी कृपासे इसको विश्वास होगया कि वह सुख अपने ही आत्मामें है। वह सुख इस आत्माका ही एक गुण है। जैसे किसी दरिद्रीको किसी गुप्त भण्डारका पता मालूम होजावे तो वह आनंदमें प्रफुल्लित होजाता है और उसे ऐसा प्रतिभास होता है मानो मैंने उस भण्डारको पा ही लिया। इसी तरह तत्वखोजीको सच्चे सुखका पता लगनेसे परम आनन्द होता है।

आत्माके किस प्रदेशमें वह सच्चा सुख है, यदि विचार किया जावे तो आत्माके हरएक प्रदेशमें अनन्त सहजानन्द है। जैसे मिश्रीकी डलीका हरएक कण मिष्टता संयुक्त है वैसे आत्माका

एक २ प्रदेश आनन्द संयुक्त है। जब आप ही आत्मा है और अपने पास ही वह सुख है तब उस सुखका स्वाद क्यों नहीं आता ? इसका कारण यह है कि यह मानव रागद्वेष मोहादि कषाय भावोंके स्वादको सदाकाल लेता रहता है। इसी कारण वीत-राग आत्मीक भावका आनन्द नहीं मिलता। उचित है कि सर्व पदार्थोंसे रागद्वेष मोह छोड़ा जावे, व्यवहार दृष्टिको ही बन्द कर दिया जावे, निश्चयनयकी दृष्टिको ही काममें लिया जावे। जब सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वाभाविक भावमें दिखलाई पड़ेंगे तब सर्व आत्माएं भी अपने स्वभाविक भावमें दिखलाई पड़ेंगे। फिर बड़े छोटेका, धनिक निर्धनका स्वामी सेवकका सब भेद मिट जायगा। सर्व ही प्राणी एकसे समान दिखलाई पड़ेंगे।

चेतनसे ही रागद्वेष होता है। जब सर्व चेतन समान हैं तब किससे राग व किससे द्वेष ? निश्चयनयकी कृपासे समता सखीका नृत्य उपयोगमें होने लगता है। समताके आते ही अपने आत्माकी ओर विशेष लक्ष्य जाता है। अपने आत्माके भीतर जब उपयोग कुछ भी देरके लिये जमता है तब ही सहजानन्दका स्वाद आजाता है। परसे हटकर स्वमें जमना ही आनन्द प्राप्तिका उपाय है।

सहजानन्दका स्वाद अपार है। यह ही वह आनन्द है जिसे सिद्ध निरंजन सदा ही भोगते रहते हैं। मैं भी इसी सहजानन्दके लाभके लिये सर्वसे उदासीन होकर साम्य रससे पूर्ण निजात्मीक सरोवरमें कल्लोल करता हूं और क्षणमात्रमें परम सुखी होकर अपने अनादि कालके भ्रमको सदाके लिये मेट देता हूं।

१२—गुप्त भंडारका पता।

ज्ञाताद्दष्टा अविनाशी आत्मा चिरकालसे तृषातुर था—दुःखित था, क्योंकि इसके साथ पुद्गलका संयोग है। पुद्गलका स्वरूप जीवके स्वरूपसे विपरीत है। पुद्गल जड़ है तो जीव चेतन है, पुद्गल अपवित्र है तब जीव पवित्र है, पुद्गल दुःख व आकुलताका कारण है तब जीव अतींद्रिय सुख निराकुलताका समुद्र है, पुद्गल अपनेको भी नहीं जानता तब जीव अपनेको भी जानता है, परको भी जानता है। यद्यपि सत्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व साधारण गुणोंकी अपेक्षा जीव और पुद्गल समान हैं तथापि विशेष गुणोंकी अपेक्षा भिन्न२ हैं। जीव और पुद्गलके संयोगसे अनादिकालीन जीवको निज शुद्ध सहजानंदका पूर्ण अनुभव नहीं होपाता जैसा पूर्ण और शुद्ध अनुभव शुद्ध सिद्ध आत्माको है। एक दफे पूर्ण शुद्धात्मानुभव प्राप्त होपाता है तब फिर परानुभवका अवकाश नहीं रहता, क्योंकि जबतक मोहनीय कर्मका उदय है तबतक रागद्वेष मोहका विकार उपयोगको मलीन करता है। मोहनीय कर्मके क्षय होजानेके पीछे परानुभव होनेका कोई अवकाश नहीं है। क्योंकि जैसे समुद्र पवनके झकोरोंसे कल्लोलित होता है वैसे आत्माका उपयोग मोहनीय कर्मके विकारोंसे क्षोभित होता है। पवन संचारके विना जैसे समुद्र निश्चल और अक्षोभित रहता है वैसे मोहनीयके उदय विना आत्माका उपयोग अक्षोभित और निश्चल रहता है। मोहनीय कर्मके क्षय होते ही सर्व शेष कर्म धीरे२ क्षय होजाते हैं।

मोहनीय कर्मके क्षय होनेका उपाय वास्तवमें सहजानंदका अनुभव है। जिसका अनुभव अनादिकालसे नहीं हुआ उसका अनु-

भव कैसे हो यह बड़ा गंभीर प्रश्न है। सहजानंदका अनुभव उस-समय तक नहीं होसक्ता जबतक सम्यक्‌दर्शनका प्रकाश न हो। सम्यक्‌दर्शन एक ऐसी निधि है जो अपने ही भीतर आत्माके प्रदे-शोंमें प्रकाशमान है, परन्तु वह कर्मोंके ढेरके भीतर छिपी है। मैं शुद्धात्मा हूं, मैं परमानंदमई हूं, ज्ञाताद्रष्टा हूं, कर्मजनित सर्व भावोंसे मैं भिन्न हूं, यह दृढ़ श्रद्धान होजाना ही सम्यग्दर्शन है। इस श्रद्धा-नके होते ही उपयोग उसीकी ओर रुचि करने लग जाता है और जब इच्छा हो तब ही उस सहजानंदका स्वाद लेता है।

श्री गुरु परमप्रतापी भेदविज्ञानी गुप्त भंडारका पता बतानेवाले जब शिष्यपर कृपादृष्टि करते हैं तब उसकी भ्रमबुद्धि मिटा देते हैं। उसको बता देते हैं कि पराधीन इन्द्रियजनित सुखसे कभी शांति नहीं मिलेगी। अतीन्द्रिय सुख आत्माका स्वभाव है।

हे शिष्य! तू सर्व ही आत्मासे अन्य परपदार्थोंसे रुचिको हटाले और जसा पता आत्माका बताया जाता है उसीके अनुसार खोज। जिनने खोजा उनने ही अपने आत्माको पाया। श्री गुरुके वचनोंपर विश्वास करके जो कोई अपने मन वचन कायकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ व्यायाम करता है वह भेदविज्ञानक अभ्याससे कभी न कभी सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको पालेता है। रुचिवान शिष्य सम्यग्द-र्शनका प्रकाश पाकर परम संतोषी होजाता है, अनादिकालकी व्य-थाको मिटा देता है और बड़े ही प्रेमसे सहजानंदका भोग पाता हुआ कालयापन करता है और अपनेको मुक्तात्मासम ही अनुभव करता है।

१३–सिद्धोंका भोजन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विभावोंको हेय समझ कर स्वभावासक्तिका प्रेमी होकर सहजानन्दकी खोज करता है। मिथ्यादृष्टीको इस सहजानंदका पता नहीं लगता है [क्योंकि उसको रात दिन विषयसुखकी ऐसी गाढ़ रुचि रहती है कि वह कभी भी सहजानंदकी प्रतीति ही नहीं करता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे इसकी बुद्धि पर ऐसा परदा पड़ा रहता है जिससे वह परम गुरुके उपदेश पर भी कुछ ध्यान नहीं देता है। किन्तु सहजानन्दके उपदेशदाताओंको पागल व बेकार समझता है। जसे उल्लूको सूर्यका दर्शन नहीं सुहाता है वैसे मिथ्यात्वीको तत्वज्ञानका उपदेश नहीं सुहाता है। ऐसे मिथ्यात्वीको सहजानन्दकी रुचि कैसे हो यह बड़ा भारी प्रश्न है। वारवार संसारमें आपत्तियोंके पाने पर व इच्छानुकूल विषयोंको न पाकर या पाए हुए विषयोंके वियोगसे दुःखित होकर जब वह संसारकी मायासे असहनीय कष्टोंको भोगता है तब वह दुःखोंसे उदासी पाता है। ऐसे अवसर पर जब उसे किसी तत्वज्ञानीका उपदेश मिलता है तब वह विचार करता है कि शायद इस उपदेशसे मुझे कुछ सुख शांति मिले। यही वह अवसर है जब मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधीका उदय मन्द पड़ता है।

जैसे मन्द नदीके प्रवाहमें तैरनेवाला प्रवाहकी दिशाके विरुद्ध भी तैर सक्ता है वैसे मंद मिथ्यात्वादिके उदयमें विवेकी तत्वके विचारकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। श्रीगुरु पता बताते हैं कि आत्मामें ही सहजानंद है। सहजानंद आत्माका निज स्वभाव

है। आत्मा अमूर्तीक है, ज्ञान दर्शनमई पुद्गल कृत विकारोंसे बिलकुल भिन्न है। सिद्ध समान शुद्ध है। यही ईश्वर परमात्मा है। यही सर्व पदार्थोंसे महान है। राग द्वेष क्रोध मान माया लोभादि विभाव सर्व ही पुद्गल कृत विकार हैं। इस तरहका उपदेश लेकर जब वह खोजी संसारके कष्टोंसे उदासी रखता हुआ एकांतमें बैठकर विचार करता है, जब आत्माके निश्चय स्वरूपका विचार करते हुए इसके भावोंमें शांति छाजाती है तब इसको अपनी अवस्था पहलेसे अच्छी दीखती है। बस यह तत्व विचारका प्रेमी होजाता है। अब इसको गुरुका उपदेश, शास्त्रका पाठ अच्छा लगता है। गुरुके उपदेशानुसार यह वर्तन करने लग जाता है, देवभक्ति भी करता है, संयम भी पालता है, दान भी देता है, दया व न्यायपूर्वक वर्तन करता है। जितनी२ शांति इसको तत्वोंके विचारसे मिलती जाती है उतनी२ इसकी विषयकी रुचि घटती जाती है। कषायोंकी मंदता होनेसे व वीतरागताकी वृद्धि होनेसे यह मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषायोंके अनुभागको घटाता हुआ चला जाता है। एक समय अकस्मात् आजाता है। जब यह सम्यक्त-विरोधी कर्मोंका उपशम करके सम्यग्दर्शनरूपी रत्नको जो उसकी आत्मा हीमें गुप्त था प्रगट कर देता है। सम्यक्तभावके प्रगट होते ही यह सहजानंदका स्वाद पालेता है। इसको सहजानंदका पता लग जाता है। फिर तो यह जब चाहे तब ही सहजानन्दरूपी अमृतको अपने आनन्द-सागर आत्मासे प्राप्त कर लेता है। जब स्वसन्मुख हुआ कि आत्मीकरसका वेदन होगया। वास्तवमें सहजानंद ही परमामृत है। यही सिद्धोंका नित्य भोजन है।

१४-सुवर्णमय जीवन ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विचारोंको बंद कर इस चिंतामें है कि किसी तरह ऐसा सुख प्राप्त हो जिसके लिये पर वस्तुसे मदद लेनेकी जरूरत न पड़े। वह किसी गुरुके पास जाकर उसका पता पूछता है। गुरु बताते हैं कि वह सुख इस अपने ही आत्माका स्वभाव है। जो कोई अपने आत्मामें स्थिर होता है, वही उस सुखको पाता है। इस सुखके लाभ करनेमें मन, वचन, काय, तीनोंकी ही जरूरत नहीं है। इन तीनोंकी पराधीनता छोड़े विना कभी भी वह सहज सुख नहीं भोगा जासका है। आत्माका स्वभाव परमात्माके समान है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, परमानंदमय, अमूर्तीक, अविनाशी, निर्दोष, निर्विकार है। वह सत् पदार्थ है। आदि व अंत रहित है। ऐसा ही हरएक आत्मा है। सहज सुख पानेके लिये हमें उस मनके विकल्पको भी हटाना होगा कि आत्मा है व उसमें अमुक २ गुण हैं या वह परमात्माके समान है। गुण व गुणीके व्यवहारको भी छोड़ना होगा। एक अभेद सामान्य ज्ञायक स्वभावमें तल्लीन हुए विना सहजसुखका लाभ नहीं होसक्ता। सहजसुखका लाभ ही मोक्षमार्ग है। जिस उपायसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा हो व नवीन कर्मोंका आस्रव निरोध हो वही मोक्षमार्ग होसक्ता है। वह एक सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मीक स्वभावमें रमण है। इसीको रत्नत्रय धर्म कहते हैं। इसीको आत्मानुभूति कहते हैं। जहां सहजसुखका भोग है वहीं शुद्धोपयोग है। जहां उपयोग आत्मामें तल्लीनताको छोड़कर जरासा भी चंचल होता है

वहीं आत्माका दर्शन व भोग बन्द होजाता है। निश्चय समुद्रके जलमें जैसा अपना मुख दिखता है वैसा तरङ्गावलीसे चंचल समुद्रमें नहीं। सहजानन्द निज वस्तु है, कोई पर वस्तु नहीं है जिसके लिये परकी मददकी जरूरत हो।

सहजानन्दका भोग जिन जिन महात्माओंको होता है चाहे वह चिरकालके लिये हो या अचिरकालके लिये हो वे सर्व ही महात्मा प्रतिष्ठाके पात्र हैं, वे सर्व ही भव्य हैं, वे सर्व ही जीवन्मुक्त हैं। पशु, पक्षी, नारकी, कल्पवासी देव, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिषी देव, भोगभूमि मानव व कर्मभूमि मानव जिसके भीतर सहजानंदका लाभ है वही सम्यग्दर्शी व मोक्षमार्गी है।

सहजानन्द विषयानन्दसे विरुद्ध है। सहजानन्द जब स्वाधीन है तब विषयानन्द पराधीन है। सहजानन्द जब बाधारहित है तब विषयानन्द बाधासहित है। सहजानन्द जब अविनाशी है तब विषयानन्द नाशवंत है। सहजानन्द जब बन्ध छेदक है तब विषयानन्द बंधकारक है। सहजानन्द जब निराकुल समतारूप है तब विषयानन्द साकुल व विसम है। ऐसा दोनोंका भेदज्ञान समझकर जो कोई सहजानंदका रोचक होजाता है वही अपने जीवनको सफल करता है। उसका जीवन सुवर्णमय जीवन है।

१५–आप ही शरण है।

कहां है सहजानन्द ? यह वही आनन्द है जो स्वाधीनताके साथ भोगा जाता है और जिससे परम साम्यभाव और निराकुलताके परिणाम होजाते हैं। इस आनन्दानुभवकी दशाको ही मोक्षमार्ग

कहते हैं । वही निश्चय या वास्तविक रत्नत्रयका प्रकाश है, वहीं शुद्धात्म प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन है, वहीं शुद्धात्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान है, वहीं शुद्धात्मामें आचरणरूप या थिरतारूप सम्यक्चारित्र है। आनन्दमय मोक्षमार्गका प्रकाश सहजानन्दमें है। यह सहजानंद कहीं बाहर नहीं है। यदि इसको पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश पांच अजीव द्रव्योंमें ढूंढें व पुद्गलकी रचित कुरसी, पलंग, तिपाई, चारपाई, वस्त्र, भोजन, अलंकार, वर्तन व मकानादि वस्तुओंमें ढूंढें व चेतन अचेतनकी मिश्रित अवस्थामें ढूंढ़ अर्थात् देव, मानव, नारक, तिर्यंच गतिके मलीन भावोंमें ढूंढें, क्रोधादि कषायोंमें ढूंढें, गुणस्थानोंके विचारमें ढूंढें अर्थात् देव, मानव, नारक, तिर्यंचगतिके मलीन भावोंमें ढूँढें, कर्मबन्धकी प्रक्रियाके विस्तारमें ढूंढें, बन्ध, उदय, सत्तामें व प्रकृति प्रदेश अनुभाग व स्थितिबन्धमें ढूंढें, गति इन्द्रिय काय योगादि चौदह मार्गणाओंके विचारमें ढूंढें तो कहीं भी नहीं मिलेगा। यदि गुण और गुणीके भेद विचारमें ढूंढें तौभी इसका पता नहीं चलेगा। जब इस सहजानंदको निश्चयनयकी दृष्टिके द्वारा अपने ही आत्मामें ढूँढा जाता है तब ही इसका पता चलता है।

निश्चयनयकी दृष्टि दिखलाती है कि यह अपना ही आत्मा जलमें कमलवत् कर्मके बंधनोंसे अबन्ध व अस्पृश्य है तथा यह सदा एक शुद्ध स्वभावमें ही रहता है व यह चञ्चलता रहित परम निश्चल है। तरंगरहित समुद्रके समान थिर है तथा यह अपने गुणोंका अभेद एक सामान्य पिंड है और यह रागादि भावोंके संयोग रहित

परम वीतराग है। जैसे अग्निके संयोग रहित जल शीतल होता है वैसा ही परम शीतल यह आत्मा है। इस तरह जो कोई भव्य जीव सिद्ध भगवानके समान ही अपने आत्माको मानकर जानकर व उसीमें एकतानता प्राप्त करता है। सिद्धमें और अपने आत्माके द्रव्यमें बिलकुल सदृशता जानता है। सोहं मंत्रके द्वारा चिन्तवन करनेका अभ्यास करता है। वह महान आत्मा सम्यग्दृष्टी जीव आत्माका स्वाद पालेता है यही सहजानंदका लाभ है। आत्माका स्वाद ही सहजानंदमई है। जैसे लवणका स्वाद खारापन है, नीमका कटुकपन है, मिश्रीका मिष्टपन, इमलीका खट्टापन है, आंवलेका कषायला है वैसे ही आत्मा द्रव्यका स्वभाव सहजानंद है जो सर्व शरणमय पदार्थोंका शरण छोड़कर यहांतक कि अरहंतादि पांच परमेष्ठीकी भी शरणको त्यागकर एक निज शुद्धात्माकी शरण ग्रहण करता है वही ज्ञानी सहजानंदको पाकर मगन होजाता है, आप आपमें तल्लीन होजाता है।

१६–अटूट अगाध समुद्र।

जगतके जीव अशुद्ध हैं, बुभुक्षित हैं, पिपासित हैं। तृष्णाके प्रवाहमें वह रहे हैं। कारण यही है कि उनको अपनी स्वाभाविक शक्तियोंका विकाश प्राप्त नहीं है। वे कर्मोदयके जालमें गृसित हैं। वे अपने स्वभावको भूले हुए हैं। अनंतकाल इस अनादि जगतमें उनको चार गतिकी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए होगया परन्तु उनकी तृष्णा जरा भी शमन नहीं हुई। जैसे खारे जलके पीनेसे प्यास नहीं बुझती है वैसे इन्द्रिय सम्बन्धी

वैषयिक सुखके भोगनेसे तृष्णाका शमन नहीं होता है। अनंतकाल तक यह जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रियोंके भोग कर चुका है परन्तु इसकी एक भी इन्द्रियभोगकी तृष्णा शमन नहीं हुई है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। खाज खुजानेसे बढ़ती ही है कम नहीं होती है। अज्ञानके कारण संसारी जीव वैषयिक सुखको सुख मान रहे हैं। खेद है कि वे उस सहजानंदको नहीं पहचान रहे हैं जो उन्हींके आत्माकी सम्पत्ति है व जो पूर्ण कलशकी तरह आत्मामें सर्वत्र प्राप्त है। आत्मा सहजानंदका सागर है। सुख-सागरके ऊपर अज्ञान, मोह व तृष्णाका ऐसा जाल बिछा हुआ है जिससे उस अज्ञानी प्राणीको अपने परमामृतमई सहजानंदका स्वाद नहीं आता है किन्तु कटुक विषसम वैषयिक सुखका स्वाद आता है। जैसे मिष्ट जलमें यदि लवणमिश्रित हो और उस जलका पान किया जावे तो लवणका ही स्वाद आयगा, मिष्ट जलका स्वाद नहीं आयगा। मिष्टका स्वाद लेनेके लिये लवणको दूर करना होगा। वैसे ही आत्मामें भरे हुए सहजानंदका स्वाद लेनेके लिये अज्ञान, मोह व तृष्णाके विकारको हटाना होगा। अर्थात् सम्यग्दर्शनका लाभ प्राप्त करना होगा। अपने आपकी सच्ची श्रद्धाको जागृत करना होगा। मैं क्या हूं, मेरा क्या स्वभाव है, इस ज्ञानको प्राप्त करना होगा। निज आत्माका यथार्थ श्रद्धान, निज आत्माका यथार्थ ज्ञान व निज आत्मामें यथार्थपने लीनता प्राप्त करनी यही रत्नत्रयका लाभ है। यही वह उपाय है जिससे सहजानंदी आत्मा प्रभुके ऊपर पड़े हुए कर्मके आवरणको हटाया जासक्ता है।

दीर्घकालसे भटके हुएको अपने स्वभावकी प्रतीति कराना बड़ा ही दुर्लभ है। परन्तु श्रीगुरुके उपदेशका यह प्रभाव है जो वज्र मिथ्यात्वीके भी कान खड़े होजाते हैं और उसकी पहले तो इतनी ही रुचि होती है कि वह आत्मीक उपदेशके सुननेके लिये उत्सुक होजाता है।

उसकी उत्सुकताकी डोर जब गुरुके हाथमें आजाती है तब गुरु ऐसा मनोहर मिष्ट उपदेश देते हैं जिससे वह भक्त धीरे २ अधिक २ खिंचा चला जाता है। उसके भीतर गुरु वचन सुननेकी अधिक उत्कण्ठा जागृत होजाती है, वह अपना अधिक समय उपदेश श्रवणमें लगाता है। कारण यह होता है कि श्रीगुरुके मिष्ट उपदेशकी चोट हृदयपर लगते ही उसके भीतर सुख शांतिका रस वेदित होने लगता है। जब वह भक्त अपनी पहलेकी आकुलताका कुछ शमन पाता है, वह अधिक २ इस उपायका शरण ग्रहण करता है। अध्यात्मीक ग्रन्थोंका भी अवलोकन करता है। ज्ञानाभ्यासके पुनः पुनः अभ्यास करनेसे अविद्याकी कालाश उसी तरह मिटती जाती है जैसे मैलसे काला कपड़ा जल द्वारा वारवार धोनेपर स्वच्छ व उज्वल होता जाता है। इसी तंत्र, मंत्रके अभ्याससे वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेता है। और तब उसे पता चल जाता है, कि मैं ही सहजानंदका बृहत् व अटूट व अगाध समुद्र हूं फिर तो वह गोता लगाता है, उसीका पान करता है, उसीमें [illegible] तरह निवास करता है जिसतरह मच्छ जल [illegible] इस सहजानंदके लाभसे जो तृप्ति पाता है वह मन, [illegible] विकल्पोंसे दूर केवल अनुभवगम्य है।

१७–सच्ची होली ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच जालसे दूर होकर समताभाव-रूपी गुफामें चला जाता है। निश्चयनयकी दृष्टिसे जब जगतको देखा जाता है तब यकायक व्यवहारके भेद दृष्टिसे अलग होजाते हैं। स्वामी सेवक, आचार्य शिष्य, माता पुत्री, पिता पुत्र, पति पत्नि, देव नारक, पशु मानव, राजा प्रजा, ब्राह्मण क्षत्री, वैश्य शूद्र, पूजक पूज्य आदि सर्व भेद दूर होजाते हैं। हर जगह सूक्ष्म बादर अनंतानंत जीवोंके भीतर अनंतानंत शुद्धात्माएं दृष्टिमें आजाती हैं। जगतभरमें सुखशांतिका एक समुद्र छाजाता है। इसीको समताका समुद्र कहो या समताकी गुफा कहो, इसके भीतर बैठ जानेसे आकुलताकारक कषायोंका आक्रमण बन्द होजाता है। न वहां क्रोधकी कलुषता है न मानकी कठोरता है न मायाकी कुटि-लता है न लोभकी मलीनता है। न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्साकी अशुद्धता है न काम विकारकी मूर्छा है, न स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, व कर्ण इन्द्रियकी विषभरी कामनाएं हैं। कर्म आस्रव व बन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय व योग सर्व ही उस समताभावके संवर भावसे निरोध होगए हैं। मन भी विश्रांतिमें है, वचन भी मौनावलम्बी है, काय भी निश्चल है। इस समताकी गुफामें तिष्ठनेवालेको निरंतर सहजानंदका स्वाद आता है। इसीको स्वात्मनुभव कहते हैं, इसीको रत्नत्रयकी एकता कहते हैं, इसीको मोक्षमार्ग कहते हैं, इसीको तप कहते हैं, इसीको ध्यानकी अग्नि कहते हैं। यही अग्नि कर्म ईंधनको जलाती

है। इसीको शिव कन्याको वरनेका पाणिग्रहण कहते हैं। सहजानंद ही धर्म है, सहजानंद ही धर्मका फल है। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानन्दके भीतर मगन रहते हुए अपने जीवनको सफल करते हैं।

हजानन्दके लाभके लिये ही देवगण अष्टाह्निका पर्वमें नंदीश्वरद्वीपमें जाते हैं और बावन चैत्यालयोंकी अष्ट द्रव्योंसे मंगलीक पूजा करते हैं। पूजाके रागमें वीतरागताका दर्शन करते हैं और सहजानंदका पान करते हैं। ढाईद्वीपके श्रद्धालु नरनारी भी इन ही दिनोंमें अपने २ धर्मस्थानोंमें नंदीश्वर पूजन करके ध्यानमय अकृत्रिम बिम्बोंकी स्तुति करके व ध्यानकी मुद्राका स्वनिर्मापित प्रतिमाओंमें दर्शन करके सहजानंद पानके लिये समतारूपी सरोवरके निकट पहुंच जाते हैं।

जो कोई सहजानंद पानके लिये ध्यानकी अग्नि जलाते हैं वे ही कर्म-ईंधनको जलाते हुए होलीका तिहवार मनाते हैं। जहां कर्मोकी होली हो, वैराग्यका रंग छिड़का जावे, सत्यका गुलाल उड़े, स्वानुभवका भंगपान हो, अध्यात्मिक मित्रोंसे धर्मचर्चा हो वही सच्ची होलीका तिहवार है, जो सहजानन्दको प्रदान करता है। जो भव्य जीव जीवनका आनंद लेना चाहें उनको उचित है कि सर्व कर्मोसे उपेक्षित होकर सहजानंदके लिये समताकी गुफामें जाकर विश्राम करें और शिवसुंदरीका मनोहर मुख अवलोकन करके तृप्तता प्राप्त करें।

१८-मोहका आक्रमण।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे उदास होकर इस चिंतामें है कि सहजानन्द कैसे प्राप्त हो? वह जब ध्यानपूर्वक विचार करता है तो विदित होता है कि सहजानन्द इस आत्माका निज स्वभाव है। वह आत्माके सिवाय किसी सूक्ष्म व स्थूल पुद्गलमें, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल द्रव्यमें किसी भी पर वस्तुमें नहीं है। अब यह आत्मा अपने उपयोगको सर्व पर वस्तुओंसे, पर वस्तुओंके गुणोंसे व पर वस्तुकी पर्यायोंसे समेट करके तथा अन्य आत्माओंसे भी निरोध कर केवल अपने एक आत्माहीके भीतर जोडता है। और वहां भी गुण व गुणीके भेदविकल्पोंको बंद करके अभेद आत्माके शुद्ध स्वरूपमें एकतानता करता है। तब ही सहजानन्दका स्वाद आजाता है।

इस संसारी आत्माके भीतर राहुके समान विकार करनेवाला मोहनीय कर्मका परिवार है। क्रोध, मान, माया, लोभका, व हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व कामभावका विकार आत्माके सहज स्वभावको आच्छादित कर देता है, तब सहजानन्दका स्वाद न आकर इसमेंसे किसी कषाय भावका ही स्वाद आता है। सहजानन्द पानेके लिये इस मोहके आक्रमणको आत्मबलके द्वारा हटाना होगा। निर्मोह होकर आत्माके सन्मुख होना होगा। मोक्षप्राप्त सिद्धात्माओंके उपयोगको स्वस्वरूपसे हटाकर परान्मुख करनेवाला कोई कर्मोदयका विकार नहीं है, इसलिये वे निरन्तर सहजानन्दका भोग करते रहते हैं। सिद्ध समान मैं हूं यह श्रद्धा व यही ज्ञान

एक सम्यग्दृष्टिको भी सहजानंद भोगमें कारण होजाता है। संसार-दुःख जालमय है। इन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंका इच्छानुकूल अलाभ व इष्ट भोगोंका वियोग तो दुःखरूप है ही। इन्द्रियोंके भोगोंका इच्छानुकूल मिलना भी दुःख रूप है। क्योंकि इनका भोग क्षणिक तृप्ति देकर आगेके लिये तृष्णारूपी रोगकी वृद्धिका कारण है। अनंत काल तक इस संसारी जीवने विषय भोग भोगे हैं। परन्तु आज-तक यह एक भी इन्द्रियकी तृष्णाको शमन न कर सका। अतएव सांसारिक दुःख और सुख दोनों ही आकुलताका कारण होनेसे दुःखरूप हैं।

संसारसे वैराग्य, शरीरसे निर्ममत्व, इन्द्रियभोगोंसे उदासीनता, इन तीन भावोंके होनेपर ही उपयोग संसार सम्बन्धी मानसिक विचारोंसे हटता है और उस स्थानपर जाता है जहां सहजानंदका समुद्र प्रवाहित होरहा है। संसार उष्णरूप है, आत्मा शांत रूप है। संसार आकुलतामय है, आत्मा निराकुल है। संसार मलीन है, आत्मा पवित्र है। संसार द्रव्य क्षेत्र काल भावमय पंच परिवर्तन स्वरूप है, आत्मा परिवर्तन रहित परम निश्चल है। संसार कर्मफल भोगरूप व कर्मास्रवरूप है, आत्मा कर्मफल रहित व निरास्रव है। संसार रागद्वेष मोह रूप है, आत्मा परम वीतरागरूप है। आत्मा ही निर्वाण है, आत्मा ही मोक्ष है, आत्मा ही सार है, आत्मा ही सहजानंदका समुद्र है। सहजानंदका इच्छुक इसी निज आत्मामें ही विलास करके परमानंदका भोग करता है और परम तृप्तिका लाभ करता है।

१९–मेरा स्वभाव ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे निवृत्त होकर मैं कौन हूं इस प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार करता है तो इसे विदित होता है कि मैं वह नहीं हूं जैसा मैं अपनेको समझता था । मैं समझता था कि मैं जन्मता हूं, मैं मरता हूं, मैं नीच हूं, मैं ऊँच हूं, मैं नारकी हूं, मैं देव हूं, मैं तिर्यंच हूं, मैं मनुष्य हूँ, मैं मोही हूँ, मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं लोभी हूँ, मैं हंसता हूं, मैं शोकित होता हूँ, मैं भयभीत हूँ, मैं प्रीति करता हूँ, मैं अप्रीति करता हूँ, मैं घृणा करता हूँ, मैं स्त्रीभोग करता हूँ, मैं पुरुष भोग करता हूँ, मैं उपभोग करता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं बालक हूँ, मैं युवा हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं मिथ्यात्वी हूँ, मैं सम्यक्ती हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं साधु हूँ, मैं अप्रमत्त गुणस्थानी हूं, मैं उपशांत मोह हूँ, मैं क्षीण मोह हूँ, मैं सयोग केवली हूँ, इत्यादि । अब मेरी सर्व कल्पनाओंका जाल एकदम दूर होजाता है । मैं जब अपने स्वरूपका अपने स्वभावका विचार करता हूँ, मैं इन सब रूप नहीं हूँ, मैं बन्ध तथा मोक्षकी कल्पनासे रहित हूँ, संसार और सिद्धके भेदसे शून्य हूँ, सूर्यके समान परम ज्योतिस्वरूप हूँ । मैं न रागी हूं न द्वेषी हूं । न मैं जन्मता हूं न मैं मरता हूं । मैं सदा अबाधित अखण्ड परमानन्दमय अपने शुद्ध स्वभावमें ही कल्लोल करता हूं । मैं न मन हूँ, न वचन हूँ, न काय हूँ । मैं मात्र ज्ञातादृष्टा एक अपूर्व अनुपम पदार्थ हूँ । जिसकी उपमा त्रिलोकमें कोई हो नहीं सक्ती । इन्द्रियोंके विषय-दाहोंसे मैं रहित हूँ, मैं अतिन्द्रिय स्वरूप

हूँ। आपसे ही आपमें अपने ही लिये अपने द्वारा आपको स्थापित करता हूँ, तब फिर एक अद्वैत भावमें पहुंच जाता हूं। सर्व कल्पनाजालके पार होजाता हूं। इसी समय मैं सहजानंदका निर्मल स्वाद पाता हूँ। सहजानन्द मेरी निजकी सम्पत्ति है। उसे कोई हर नहीं सक्ता, तोड़ नहीं सक्ता, नाश नहीं कर सक्ता। सहजानन्द ही वह अमृत है जो मुझे अजर अमर रखता है। मैं आकाशके समान निर्लेप हूं। वायुके समान असंग हूं। अग्निके समान ज्वाज्वल्यमान हू। चंद्रमाके समान परम शीतल हूं। कमलके समान परम प्रफुल्लित हूं। सूर्यके समान परम तेजस्वी हूं। मैं ही परमात्मा, ईश्वर, भगवान, निरंजन, निर्विकार, सत्‌रूप एक अमूर्तिक पदार्थ हूं। कर्मोंका नाटक नाना प्रकार दृश्य दिखलाता है। मैं उनसे हर्षित व शोकित नहीं होता हूं। मैं मात्र जानता हूं तथापि उपेक्षा भाव रखता हूं। न मुझे मुक्ति प्राप्त करनी है, न तप व जप करना है। मैं सब कर्तृत्वसे परे, परके भोक्तृत्वसे परे अपने सहज स्वभाव हीमें रमण करनेवाला व आपसे आपमें ही सहजानन्दका पान करनेवाला हूं। मेरी स्वानुभूति मेरे पास है। मैं उसीका धनी परमसंतोषी हूं।

२०–आत्मदेव पूजा।

एक ज्ञानी भवमें रहता हुआ अपनेको भव रहित अनुभव कररहा है। भेदविज्ञानके प्रतापसे यह जानता है कि मैं आत्मा हूं। मेरा कोई प्रकारका सम्बन्ध अनात्मासे नहीं है। अनात्माके सम्बन्धको लेकर जगतमें नर, नारक, पशु, मानव आदि नाम प्रसिद्ध

हैं व मिथ्यात्व सासादन मिश्र आदि अयोगिपर्यन्त गुणस्थान कहे गए हैं। एकद्रिय आदि १४ जीवसमासोंके नाम हैं।

गति इन्द्रिय काय योग आदि मार्गणाओंके भेद हैं। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चार प्रकारके बन्ध हैं। संसार व मोक्षकी सारी प्रक्रिया परके संयोगको लेकर है। यदि एक अकेले आत्माकी तरफ ही दृष्टि डाली जावे तो विदित होगा कि यह आत्मा आप एक अकेला है। किसी अन्य आत्मासे भी इसका सम्बन्ध नहीं है।

इस अकेले आत्माको ही परमात्मा, ईश्वर, प्रभु, सर्वज्ञ, वीतराग, सर्वदर्शी आदि नामोंसे कहा जाता है। ये सर्व नामकी संज्ञाए भी कल्पित हैं। यह आत्मा तो सर्व कल्पनाओंसे रहित है। यह परम शुद्ध चैतन्यमय एक अनुपम पदार्थ है। जगतमें सूर्य, चन्द्रमा, रत्न आदि अमूल्य पदार्थ हैं। पर ये सब स्पर्श, रस, गंध, वर्णमय होनेसे पौद्गलिक हैं। अमूर्तीक आत्मासे इनकी सदृशता कदापि नहीं होसकती है।

आत्मा ही मेरा घर है, वही मेरी शैया है, वहीं मैं विश्राम करता हूं। आत्मा हीमें मेरा आनंदमय भोजनपान है। उसे मैं खाता-पीता हूं। आत्मा हीमें मेरा चिदाकार बहुमूल्य वस्त्र है, उसे ही मैं पहनता ओढ़ता हूं। आत्माहीमें मेरा सर्व विश्व है। उसे मैं अपने आत्माहीमें सर्वात्मा पाता हूं। आत्मा ही वह दर्पण है जहां पूर्ण निर्मलता है, निर्विकारपना है। सहजानंद आत्माका ही स्वभाव है। सहजानंद प्राप्त करनेका प्रेमी एक अपने ही सहज आत्माके स्वभावमें एकाग्र होता है। उसे ही देव मानकर पूजता है! उसे ही प्रभु

मानके उसकी सेवा करता है। उसे ही अपना एक क्रीड़ाघर मानके उसीमें कल्लोल करता है। वही एक अपूर्व उपवन है जिसकी शोभाका निरीक्षण उसे आत्माको परमानन्द प्रदान करता है, यह उसीमें मगन हो परम संतोषित होजाता है।

२१–आत्मा भंडारी।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपंच-जालसे शून्य होकर जब एकांतमें अपने भीतर कल्लोल करता है तब यकायक सहजानंदमें डूब जाता है। सहजानन्द एक ऐसा गुण है जो आत्मा द्रव्यमें सर्वत्र व्यापक है जैसे इक्षुमें मिष्ठरस व्यापक रहता है। लवणमें लवणता सर्व-व्यापक है। नीममें कटुकता सर्व-व्यापक है। सहजानन्दका वर्णन हो नहीं सक्ता, वह मात्र अनुभवगम्य है। इस आनन्दके भोगको कोई व्यक्ति अनन्तकाल भी भोगे तब भी उसको थकन प्राप्त नहीं होसकती है। इस आनंदका लाभ मिथ्यादृष्टीको होना दुर्लभ है। जिसको अमृत कूपका पता नहीं वह अमृतका लाभ कैसे पासक्ता है? मिथ्यादृष्टी आनंदसागर आत्माके पतेसे शून्य है। इसका पता कसे लगे? जब किसीको श्रीगुरुका समागम होता है या वह जिनवाणीका मनन करता है तब उसका अनादिकालका भ्रम निकल जाता है। वह मानता था कि मैं रागी द्वेषी हूं, नर, पशु, नारकी देव हूं, एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, व पंचेन्द्रिय हूं, कर्म जनित पर्यायोंमें, अशुद्ध अवस्थाओंमें विकारी भावोंमें आत्मापनेकी प्रतीति कर रहा था। जब उसे यह बोध होजाता है कि आत्मद्रव्यका यह वास्तविक स्वरूप नहीं है, यह

तो परकृत उपाधि है । उपाधिजन्य विकारको असली मानना वैसा ही मिथ्याभाव है जैसे उष्ण पानीको स्वाभाविक पानी मानना, रंगीन वस्त्रको असली वस्त्र मानना, पन्ने रत्नके समान दिखनेवाली स्फटिकमणिको पन्नारत्न मान लेना । पानी स्वभावसे शीतल है, वस्त्र स्वभावसे सफेद है, स्फटिकमणि स्वभावसे पर वर्ण रहित निर्मल है, वैसे ही आत्मा सर्व उपाधिसे रहित शुद्ध निर्मल अमूर्तीक ज्ञानानंदमय एक निराकुल पदार्थ है । उसे ही परमात्मा, सिद्ध, भगवान, जिनवर, पूज्य, ध्येय, निरंजन, निर्द्वन्द, अखंड, अजर अमर, अव्याबाध, आकाशतुल्य, निर्लेप व सहजानंदी कहते हैं। इस प्रकारका बोध होने पर जब मिथ्यादृष्टी सरलभावसे नित्यप्रति अपने वास्तविक सच्चे स्वभावका मनन करता है, अभ्यास करता है, तब परिणामोंमें उज्वलता होती जाती है, अंधकार मिटता जाता है, तत्व मननसे एक समय आजाता है । जब सम्यग्दर्शनके बाधक कर्मोंका असर बन्द होजाता है और यकायक आत्मप्रतीति जागृत होजाती है । मैं सिद्धसम शुद्ध हूं, मेरा द्रव्य स्वभाव कभी गया नहीं, जायगा नहीं न अभी छूटा है, द्रव्य रूप जैसाका तैसा है । इस अपने द्रव्यके स्वभावमें जो कोई उपयोगको जोड़ता है वह सहजानंद तुर्त पालेता है । आप ही भंडार है, आप ही भंडारी है, आप ही ग्रहणयोग्य है, आप ही अमृतरस है, आप ही अमृतरसका पान है । इस भेदको पहचाननेवाला व्यक्ति अपने स्वरूपकी तरफ सन्मुखता रखता है । उसीके भीतर आपको रुगाता है, और अपने जीवनको सफल बनाते हुए सहजानंदको पाकर परम सुखी होजाता है ।

२२–सच्चा जैनत्व।

एक ज्ञानी भव्य जीव अपनी भव्यताको जब विचारता है तब उसको पता चलता है कि मैं स्वयं शुद्ध एकाकी आत्म द्रव्य हूं। सूर्यसम स्वपर प्रकाशक हूं। सर्वज्ञ वीतराग निर्द्वन्द हूं। परमानन्दसे परिपूर्ण हूं। कर्मसंयोग जनित सर्व अंतरंग व बहिरंग अवस्थाएं आत्माका निज स्वभाव नहीं है, ऐसा आप होते हुए भी अनादिकालीन अज्ञानसे इसने यह मान रक्खा है कि मैं कुछ और ही हूं। इस आत्माका सम्बन्ध स्वात्मीय गुणोंसे ही है। गुण और गुणोंमें एकता है। वास्तवमें सर्व गुण स्वगुणीमें तन्मय और अखण्ड होते हैं। समझनेके लिये भेद किया जाता है। स्वस्वरूपको न समझकर सुखके खोजी इस प्राणीने इन्द्रिय विषयजनित क्षणभंगुर व पराधीन सुखको ही सुख माना तथा अनादिकालसे इसी सुखकी तृष्णासे आकुलव्याकुल रहा। नानाप्रकार पंचेंद्रिय सम्बंधी विषय-भोग सामग्रीको एकत्रित करता रहा। उनके लिये न्याय, अन्याय, हिंसा अहिंसाका भी ख्याल छोड़ दिया। प्रचुर धन मिलाकर इच्छित भोगोंको संग्रह किया। उनको भोगता रहा, तृप्त नहीं हुआ। यकायक आयुकर्मके क्षयसे शरीरको त्यागना पड़ा। अन्य गतिमें फिर वही इन्द्रियचाहकी दाहमें जलता रहकर इन्द्रिय सुखसे तृप्ति पानेका उद्यम करता रहा परन्तु अन्तमें निराश ही हुआ। अनंत-काल बीत गया परन्तु यह चाहकी दाहको शमन नहीं कर सका।

मैं कौन हूं, इसका ठीक २ पता न पानेसे इसकी यह घोर अज्ञानमूलक दशा हुई। अब श्रीगुरुके प्रतापसे इसने अपनेको

समझा । इसका भ्रम मिटा । मैं ही सहजानंद समूह हूं यह प्रतीति दृढ हुई । विषयसुखकी श्रद्धा मिटी । पर संयोगसे सुख होगा यह भावना हटी । सर्वसे वैराग्य उत्पन्न होगया । कोई अपना नहीं है यह आकिंचन्य भाव जग उठा । जैसा आप परसे निराला है वैसा प्रत्येक आत्मा परसे निराला है सर्व ही शुद्ध बुद्ध परमात्मा रूप हैं । इस ज्ञानने अज्ञान मूलक राग द्वेषको दूर कर दिया, परम समताभाव पानेकी कला हाथमें आगई । अब यह सहजानंदके लिये पर वस्तुका मुख नहीं ताकता—अपने ही भीतर झांकता है । सूक्ष्मज्ञान दृष्टिसे झांकता है तब भीतर अपने ही स्वच्छ स्वात्म निवासमें प्रवेश पाता है । प्रवेश होते ही सहजानंदका लाभ होजाता है । जैसे शांत शीत सरोवरके निकट आते ही व उसमें मज्जन करते ही आताप मिट जाता है व शीतलता छाजाती है, उसी तरह आत्मा-मय सहज ज्ञान सरोवरके निकट आते ही व उसमें मज्जन करते ही भवाताप–तृष्णा संताप मिट जाता है और सहजानन्दका अपूर्व स्वाद आता है ।

इस सहजानन्दके भोगसे यह भव्य जीव अपनी भव्यताको चरितार्थ करता हुआ सहज ही से सहज सुखको पाकर अपनेको बंधसे रहित-मुक्त-परम आत्मा ही समझता है । इस सहजानंदके भोगसे एक अपूर्व ध्यानकी अग्नि प्रज्वलित होजाती है जो आत्माके भीतर संचित कर्ममैलको जला देती है । वास्तवमें जहां सहजानंदका भोग है वहीं मोक्षमार्ग है । वहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्रमई रत्नत्रयकी एकता है । वहीं जैनत्व है, वहीं निर्ग्रंथत्व है,

वहीं सहज समाधि है, वहीं सिद्धपद है, वहीं अरहंत पद है, वहीं आचार्य उपाध्याय व साधुका पद है। सहजानन्दका लाभ ही परम मंगल है।

२३-आत्मीक भंडार।

ज्ञाता दृष्टा एक आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित हो, एकांत सेवन करता हुआ निज आत्मीक तत्वका निरीक्षण करता है तब यह पाता है कि वह तत्व पूर्णपने आनन्द गुणसे भरपूर है। सहजानन्द उस आत्माका स्वभाव है। आत्माके मार्गसे बाहर रहकर इस कुमार्गगामी व्यक्तिने उस आनन्दके लेनेका प्रयास नहीं किया। इसीलिये यह चिरकालसे दुःखित रहा। श्रीगुरुके उपदेशके प्रतापसे अपना स्वरूप झलक गया कि मैं ही सहजानन्द स्वरूप परमात्मा हूं। मैं ही ज्ञातादृष्टा अविनाशी अमूर्तीक एक शुद्ध पदार्थ हूं। जिसकी मैं भक्ति करता था वह मैं ही हूं, जिसकी मैं खोज करता था वह मैं ही हूं, जिसकी शरणके भीतर जाकर मैं सब आकुलताओंसे बचना चाहता था वह परम शरणरूप मैं ही एक निराकुल धाम हूं, जिसकी छत्रछायामें बैठनेसे कर्म-शत्रुओंका आक्रमण नहीं होसक्ता वह मैं ही अनन्तबली वीर आत्मा हूं जिसको जरा नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, शोक नहीं, वियोग नहीं, खेद नहीं, क्षुधा नहीं, तृषा नहीं, वह निर्दोष वीतराग प्रभू मैं ही हूं। जिसको नाम नहीं, जिसके गुणोंके भेद नहीं, जिसके भीतर कोई विकार नहीं वह निर्विकार अद्भुत पदार्थ मैं ही तो हूं। जिसका ध्यान सुखशांतिका विस्तार होता है वह अनुपम ध्येय पदार्थ मैं ही तो हूं।

उसके लिये अनेक मंदिर बनवाए जाते, प्रतिमाएं स्थापित की जातीं, तीर्थस्थान स्थापित किये जाते, बड़ी २ तीर्थयात्राएं की जातीं, वह परम पूज्यनीय देव मैं ही तो हूं। जिसको आठ द्रव्योंसे पूजकर भक्तजन जन्म जरा मरणके निवारणकी, भवाताप शमनकी, अक्षय गुण लाभकी, कामविकार शमनकी, क्षुधा रोग निवारणकी, मोह अन्धकार दूर करनेकी, आठ कर्म जलानेकी, मोक्षफल प्राप्तिकी भावनाएं भाते हैं, वह परम पुरुष परमात्मा मैं ही तो हूं। जिसकी भक्तिके लिये इन्द्रगण व देवगण आकर माताकी सेवा करते व ऐरावत हाथीपर बैठाकर सुमेरु पर्वतपर लेजाते व क्षीरसमुद्रके जलसे अभिषेक करते व फिर लौटकर मातापिताकी भक्ति करते, उनको आनन्द नाटक दिखाते, पालकीमें बिठाकर बनमें लेजाते तथा समवशरणकी रचना करके १२ सभाएं सजाते व गंधकुटी बनाते व निर्वाण समयकी पूजन करके निर्वाण स्थानको अंकित करते, वह माननीय सिद्ध परमात्मा मैं ही तो हूं।

इस प्रकारका जागृत भाव आते ही संसारासक्तिका सर्व तम विघट जाता है, इन्द्रियविषयकी चाहकी दाह शमन होजाती है, परम पुरुषार्थ सामने खड़ा होजाता है और यह ज्ञानी सहजानन्दका भलेप्रकार पता पालेता है। तब जब चाहे तब उस आनन्दको लेता हुआ परम संतोषको पाता रहता है। अपने ही पास अपूर्व भंडारको मिथ्यात्वीने आजतक नहीं देखा उसका दर्शन सम्यक्ती जीव करके अपनेको कृतार्थ मानता है और सहजानन्दके रसास्वादमें जलमें मत्स्यवत् निमग्न होजाता है।

२४–आनन्दसागरमें मगनता ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचोंसे रहित होकर इस बातकी खोजमें है कि सहजानन्दका लाभ हो । श्रीगुरुके उपदेशसे व शास्त्रावलोकनसे व युक्तिपूर्वक विचारसे यह निर्णय उसकी बुद्धिमें होचुका है कि सहजानंद अपने ही आत्माका स्वभाव है तथा वह अपनेसे ही अपने भीतर मिल सक्ता है । प्रयत्न करनेकी यह जरूरत है कि इस मानवके साथ मन वचन काय हैं । उनके भीतर निरन्तर चंचलता रहा करती है इसीसे इनके प्रदेशोंके साथ अविनाभाव सम्बन्धसे रहनेवाला आत्मा भी चंचल होजाता है । चंचलतामें सहजानन्द कहां ? सहजानंद तो थिरतामें है । इन तीन बाधकोंमें मुख्य बाधक मन है ।

यह नाना प्रकारके विषयोंकी थिरतामें रमा करता है, नाना प्रकारके कार्योंमें लग्न रहता है । शरीर व शरीरके सम्बन्धियोंका विचार करता है । इच्छित विषयोंकी प्राप्तिका, उनकी रक्षाका, उनके वियोगकी चिन्ताका व अनिष्टके संयोगकी चिन्ताका व नाना प्रकार शारिरिक रोगोंका, क्षुधा–तृषा वेदना आदिका विरोधी व्यक्तियोंको कष्ट पहुंचानेका, इष्ट विषयोंकी प्राप्तिके लिये मृषा बोलनेका, अदत्तके ग्रहणका, कुशील सेवनका, अनादि परिग्रहके संग्रह करनेका, एक विषयको छोड़ दूसरे विषयके भोगनेका, परनिन्दामें अनुमोदित होनेका, स्वप्रशंसामें राजी रहनेका विचार रातदिन किया करता है । इस मनकी सम्पूर्ण कल्पनाओंको मिटानेका उपाय इसे अध्यात्मीक आगमके विचारमें जोड़ देना है, आत्माके स्वरूपके विचारमें लगा

देना है । यह आत्मा निश्चयसे ज्ञाता दृष्टा अविनाशी है, अमूर्तीक है; द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित है, सहजानन्द स्वरूप है । इसे आत्मतत्वके पुनः पुनः विचारमें इसीतरह जोड़ देना चाहिये जिसतरह एक बन्दरको किसी एक खम्भेमें बांध देते हैं वह उसीपर चढा व उतरा करता है ।

आध्यात्मिक विचारमें जोड़ देनेसे इसके भीतरसे अनात्म विचारोंके होनेका मार्ग बन्द होजायगा तब यह आत्म विचार करता करता कभी भी एक क्षणके भीतर भी निश्चलता भजेगा । तब आप आपमें थिरीभूतपना रूप चारित्रका लाभ प्राप्त कर लेगा । तब मन वचन काय उतने क्षणके लिये थिर होजांयगे । बुद्धिपूर्वक कोई चंचलता न होगी। यही वह काल है जब आत्मा आत्माकी तरफ आकर्षित होता हुआ उसीका स्वाद लेता है तब सहज ही सहजानन्दका भोग प्राप्त होजाता है । जबतक सहजानंदके सागर आत्माके भीतर मगनता न होगी, उसी समुद्रका शांत रस पान न किया जायगा तबतक सहजानन्दका स्वाद नहीं आएगा । जिसे इस आनन्दका मजा लेना हो उसको यह उचित है कि मन वचन कायके सर्व आरंभ छोड़कर आत्माके ही उपवनमें क्रीड़ा करके सन्तोषित रहे ।

२५–सच्चे निर्ग्रंथ ।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठकर सुख धर्मकी समालोचना करता है; इन्द्रियजनित सुखको आकुलताकारी, अतृप्तिवर्द्धक, आत्माको कलुषित करनेवाला पाता है । अनंतकाल होगया इस संसारी प्राणीको एक भी इन्द्रियकी कामना तृप्त नहीं हुई । यह

दिन रात भूखा ही बना रहता है। वास्तवमें यह सुख नहीं है, सुखाभास है। सच्चा सुख सहजानंद है जो इस आत्माका निज स्वभाव है। इसका लाभ उसी व्यक्तिको होगा जो निज आत्माको पहिचानकर व उसकी श्रद्धा लाकर उसकी सेवा करेगा। आत्मा-राधना ही सहजानंदको प्रदान करती है। परकी आराधना त्यागे विना आत्माराधना नहीं होसक्ती है। अतएव इस उपयोगवान आत्माको उचित है कि तन, मन, धन, कुटुम्ब, परिवार सबकी आराधना छोडे, इन्द्रियोंकी आराधना त्यागे, मनके विचारोंकी आराधना त्यागे, मन वचन काय तीनोंके कामोंसे विरक्त होजावे और इन तीनोंके भीतरसे केवल निज आत्माके भीतर प्रवेश करे। आत्मा सहजानंदका समुद्र है। आत्मामें स्थान पाते ही सहजा-नंदका स्वाद आजायगा। आत्मा जो भोतिक दृष्टिका विषय नहीं केवल मात्र ज्ञान दृष्टिका विषय है, उसको किस तरह ग्रहण किया जावे।

अनुभवमें आनेवाले सर्व ही ज्ञानको, सर्व ही ज्ञेयोंको, सर्व ही सुखको, सर्व ही दुःखको, सर्व ही संस्कारोंको, सर्व ही कर्मबंधके प्रकारोंको, सर्व ही कर्मोंके फलको, सर्व ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके रूपोंको, सर्व ही अणु व स्कंधोंके आकारोंको, सर्व ही द्रव्योंके गुणोंको, सर्व ही द्रव्योंकी पर्यायोंको अपने ही आत्माके भेदरूप गुणोंको व भेदरूप पर्यायोंको लक्ष्यमें जब न लिया जावे, परसे शून्यभावकी प्राप्ति की जावे तब यकायक आत्माका अनुभव होजाता है। जिसका अनुभव करना है वह आप ही है। पर वस्तुके विचार

सम्बन्धी मेघोंके आवरणोंको हटानेकी आवश्यक्ता है। परसे भिन्न मैं आप अकेला एक अमूर्तीक अविनाशी ज्ञानदर्शन लक्षणधारी परमात्मा हूं। यही मनन चिरकाल किये जानेकी आवश्यक्ता है। दीर्घकालके मननसे ही वृत्तिपरसे निवृत्त होकर आपमें प्रवृत्ति करनेको समर्थ होगी।

अपना आत्मारूपी रत्न बहुत ही सूक्ष्म है परन्तु अजीव सम्बन्धी बड़े भारी समुदायके भीतर छिप रहा है। खोजीको उचित है कि वीतराग विज्ञानमई लक्षणको समझकर इस लक्षणपर दृष्टि धरकर उससे जो न मिले उन सब अलक्ष्यको भावोंकी सन्मुखतासे हटावे। अपने लक्षणपर स्थिर रहकर उस लक्षण विशिष्ट आत्मारूपी अपने द्रव्यको देखे। सहजानंदका लाभ ही धर्मके सेवनका फल है। मानव जीवनकी सफलता भी इसी लाभमें है। सम्राट् हो या एक निर्धन पामर मानव हो, निरोगी हो या रोगाक्रांत मानव हो, बहु कुटुम्ब सहित हो या अकेला हो, नगरमें हो, ग्राममें हो, राज्यधानीमें हो, थलपर हो, जलपर हो या आकाशकी वायुमें हो, ऊपर हो, मध्यमें हो या नीचे हो; दिनमें हो, रात्रिमें हो, सबेरे, दोपहर या सांझको हो, हरएक आत्मान्वेषी व्यक्ति हरएक दशामें सहजानन्दको पाकर परम सुखी होसक्ता है। जिसने इस अमृतको पा लिया वही अमर होजाता है। विना इस अमृतके कोई आजतक अमर हुआ नहीं, होगा नहीं। धन्य हैं वे संत महात्मा जो सहजानंदका स्वाद लेते हुए अपने जीवनको आदर्श बनाते हैं। वे ही श्री जिनेन्द्रके सच्चे दास हैं, वे ही निर्ग्रंथ या जैन हैं।

२६-स्वानुभव जल।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर ऐकांत-सेवी होजाता है और सहजानंदके भोगनेके लिये लालायित होजाता है। सहजानंद कहीं अन्यत्र नहीं है, आत्मामें है। आत्माका एक गुण है। जो आत्मा आत्मामें ही जमेगा वह सहजानंदको पाएगा। आत्माकी तरफ लक्ष्यका जाना तब ही संभव होसक्ता है जब अपना लक्ष्य और सब बातोंसे हटकर एक आत्मापर ही जम जावे। यह बहुत बड़ा कठिन काम है। आत्मासे निराले आठों कर्म हैं। आठों कर्मके उदयरूप प्रगट फल हैं। आत्मासे भिन्न मन है और मनके त्रिकाल सम्बन्धी संकल्प विकल्प हैं। वचन और कायकी क्रियाएं तो आत्मासे भिन्न हैं ही। कर्मके उदयसे जो आत्माके विकारी भाव होते हैं वे भी आत्मा नहीं हैं। आत्मा उन सर्व अनुभवोंसे अलग है जो मनके द्वारा तर्कमें आते रहते हैं। मनातीत अवस्था हो तब कहीं आत्माकी तरफ लक्ष्य जावे। अतएव साधकका यह पवित्र कर्तव्य है कि वह मनके भीतर प्रवेश करके मनके भीतरसे उलंघ कर किसी सूक्ष्म पदार्थ पर चला जावे जो आप ही स्वयं है व जिसका कथन होना अशक्य है, व जिसका मनसे विचार होना अशक्य है, जो वचन मन कायसे अतीत है, उधर लक्ष्यका जाना बड़ा ही दुर्निवार है तथापि जिसको लक्ष्यमें लाना है वह आप ही तो है। अतएव अपने आपको मन वचन कायकी किसी भी क्रियामें उपयुक्त न कराया जावे। इस बातका अभ्यास किया जावे कि यह अपनेसे अपनी झांकी कर सके। सर्व जगतकी प्रपञ्च रचनासे वह

निराला है । अतएव जो कोई विश्व प्रपंचसे वैराग्ययुक्त होगा वही प्रपंचसे अतीत निर्मल आत्मस्वरूपका दर्शन करेगा । जैसे किसीके घरके पास ही सरोवर है और वह बड़े ही मीठे जलसे परिपूर्ण है । उस जलका स्वाद तब ही आयगा जब सरोवरके मिष्ट रसका प्रेमी सर्व ओरसे हटकर सीधा सरोवरके निकट आयगा और बड़े भावसे सरोवरके जलको पात्रमें भरके व छानकर उस जलका पान करेगा । जो सहजानंदका इच्छुक है उसको उचित है कि श्रुतके आधारसे आत्माका सच्चा केवल शुद्ध स्वभाव क्या है इस बातको जाने, जानकर श्रद्धा लावे । श्रद्धावान होकर यही मनन करे कि वही मैं हूं । उसके सिवाय मैं कुछ नहीं हूं । इसका मनन निरंतर करना ही उस आत्मीक सरोवरके निकट पहुंचनेका उद्यम करना है । इस अभ्यासको सतत् करते रहनेसे अकस्मात् एक समय आयगा जब आत्मसरोवरके बिलकुल निकट पहुंचकर उसके स्वानुभव रूपी जलको वह पान करेगा । वही जलपान सहजानन्दके स्वादको अर्पण करेगा । यही मोक्षमार्ग है जहां स्वात्मानंदका स्वाद मिले तथा वही मोक्ष है।

४७–सच्चा जौहरी ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचसे रहित होकर एकांतमें विचार करता है तो उसे यह सर्व जगतका ठाठ क्षणभंगुर दीखता है । सांसारिक सुख जिन पदार्थोंके आधीन होता है वे पदार्थ सब क्षणभंगुर हैं । इसलिये उनके आधीन सुख भी क्षणभंगुर है । अतएव जो इस झूठे सुखकी तरफ रंजायमान होते हैं उनको सदा ही आकुलता बनी रहती है । अनंत संसारमें विषयासक्तको कभी भी

शांति नहीं मिल सक्ती है। मोहके कारण भ्रमसे मोही जीव विषय-सुखको सुख मान लेते हैं। उनको सच्च आध्यात्मिक सुखका पता नहीं है, जो अपने ही आत्माका स्वभाव है। श्रीगुरुके उपदेशके प्रतापसे जो अपने आत्माके स्वभावको पहचान लेता है उसे सच्चे सहजानंदके सागरका पता लग जाता है। फिर वह जब चाहे तब उसी सागरमें गोता लगाकर व उसी आनंदके अमृतका पान कर परम सुख-शांतिका लाभ करता है।

आत्माकी तरफ दृष्टि जानेके लिये यह उचित है कि सर्व ही निज आत्मासे भिन्न पदार्थोंसे दृष्टिको संकोच किया जावे। ऐसी अवस्था प्राप्त की जावे जहां आप ही देखनेवाला हो व आप ही देखनेयोग्य हो, आप ही ध्याता हो व आप ही ध्यानके योग्य हो, आप ही ज्ञाता हो व आप ही जानने योग्य हो, आप ही भोक्ता हो व आप ही भोगने योग्य हो, जहां परका किंचित् भी सम्बन्ध न रहे, अपना सर्वस्व आपको ही अर्पण किया जावे। यह अवस्था तब ही आती है जब सम्यग्दर्शन गुण आत्मामें प्रगट होजाता है, जिसके बलसे पूर्ण सत्य ज्ञान व पूर्ण सत्य वैराग्य होजाता है, सहजानंदका ही श्रद्धान जम जाता है, विषयानन्दका श्रद्धान मिट जाता है।

सतत मनन करते रहनेसे, वार वार तत्वके अभ्याससे निज तत्व सन्मुख आजाता है और पर तत्व दृष्टिसे दूर चला जाता है। जौहरीके समान रत्नपरीक्षक होना ही रत्नके लाभका उपाय है। आत्मरत्नका परीक्षक सम्यग्दृष्टी आत्मरत्नको बड़ी सुगमतासे प्राप्त

कर लेता है। वह कभी धोखेमें नहीं पड़ता है। वह कभी असत् द्रव्य, गुण, पर्यायको आत्मा नहीं कल्पता है। निजात्माको ही आत्मा जानता हुआ वह ज्ञानी सहजानन्दका प्रेमी रहता हुआ जब चाहे तब सहजानंदका भोग कर सक्ता है। मोक्ष भावमें जो सहजानन्द है वही सहजानंद मोक्षमार्गीको भी प्राप्त होता है। सहजानंदके उत्सुकको उचित है कि निश्चयनयकी दृष्टिसे जगतको शुद्ध नित्य निश्चल देखे तब सर्व आत्माएं अनात्माओंसे भिन्न एक रूप शुद्ध शांत आनन्दमय दीख पड़ेंगी, राग द्वेषकी कालिमा मिट जायगी। फिर जब भावनाका श्रोत बन्द होगा तब यह अपने ही भीतर आपको जमाता हुआ सहजानन्दका भोक्ता होजायगा।

२८–सचे श्रमण।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठा हुआ अपने द्रव्यकी तरफ लक्ष्य दे रहा है। तब उसको अपने सामने एक शुद्ध आत्म-द्रव्य नजर आरहा है जिसमें कोई भी सम्बंध किसी अन्य द्रव्यका नहीं है न अन्य आत्माका संबन्ध है, न पुद्गलके किसी परमाणु व स्कंधका संबन्ध है न धर्मद्रव्य न अधर्म द्रव्य न आकाश और न कालाणुओंका सम्बंध है। जब पुद्गलका कोई सम्बंध आत्मासे नहीं है तब पुद्गल संयोगजनित भाव विकारोंका भी कोई संबन्ध आत्मासे नहीं है। अतएव इस अपने आत्मामें न अजीव है न आस्रव है न बंध है न संवर है न निर्जरा है और न मोक्ष तत्व है।

न इसमें मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण,

सूक्ष्म सांपराय, उपशांत मोह, क्षीणमोह, सयोग केवली, अयोग केवली गुणस्थान है । न इसमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधू इन पांच परमेष्ठीके भेद हैं । न इसमें पांच स्थावर और त्रसके भेद हैं । न यहां देश संयमकी कल्पना है । न यहां दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि-भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग, इन ग्यारह प्रतिमाओंके भेद हैं । न यहां सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात चारित्रके भेद हैं । और तो क्या, उस आत्मद्रव्यमें गुण गुणीके भेद भी नहीं हैं ।

अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दर्शन स्वरूप है, सुख गुण-रूप है, सम्यक्त गुण स्वरूप है, चारित्र रूप है, वीर्यमई है, अस्ति रूप है, वस्तु रूप है, प्रदेश स्वरूप है । इत्यादि भेदकल्पनाओंसे मुक्त वह अभेद एक अखण्ड पदार्थ है । इस अपने ही आत्मद्र-व्यकी सत्तामें विश्राम करना, उसीमें सन्तोष प्राप्त करना, उसीको अपना सर्वस्व समझना, उसीमें रमण करना, उसीमें भोक्ता भोग्य भाव रखना, सहजानंद पानेका उपाय है । वह आत्मा पदार्थ सह-जानन्दका सागर है । पूर्ण कलशकी तरह सहजानंदसे भरपूर है । लक्ष्यबिन्दु उसी शुद्ध पदार्थका रखना अपना परम कर्तव्य है । जीव-नको सफल बनानेका उपाय सहजानंदका भोग है । ऐसा भोगी पर पदार्थोंके भोगोंके लिये आतुर नहीं होता है । जिसको अमृतपानका स्वाद आगया वह उससे कम स्वादवाले पानका प्रेमी कैसे बना रह सक्ता है । सम्यग्दृष्टी वही है जो इस सहजानंदको व इसके स्रोतको

पहचाने । सहजानंदके भोगी ही सच्चे योगी हैं, साधु हैं, तपस्वी हैं महात्मा हैं । परमात्मा भी निरंतर सहजानंदका भोग करते हैं । जहां इस अपने आनन्दका भोग है वहां परम साम्यभाव झलकता है । रागद्वेषादि कालिमाओंका जरा भी झलकाव नहीं रहता है । वास्तवमें जो सहजानंदके ज्ञाता हैं वे ही श्रमण हैं, वे ही जगतपूज्य व वंदनीय हैं ।

९९–त्रिगुप्तिमई किला ।

ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्मा स प्रपंचजालोंसे रहित होकर अपने आपमें निवास करता है । उ:, भले प्रकार देख लिया कि अपनेसे बाहर रहनेमें कहीं भी सुखशांति नहीं मिल सक्ती है । अनन्तकालसे लेकर इस जीवने निगोदपर्यायसे लेकर नौ ग्रैवेयिक पर्यंत नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगतिमें अनंत ही भव धारण किये व वार वार इन्द्रियोंके विषयभोग भोगे, परन्तु कहींपर भी तृप्ति व सुख शांतिका लाभ नहीं हुआ । जैसे चमकती बालूको जल समझकर पीनेके लिये दौड़नेपर मृगको निराशा ही होती है, उसी तरह इस जीवको अपने आत्मासे बाहर परपदार्थमें सुखकी आशासे दौड़नेपर निराशा ही होती है । अपने ही पास सहजानंद है, कहीं दूर नहीं है । खेद यह है कि मोहके नशेमें बेखबर होकर अपनेसे बाहर बाहर ढूंढता है । अपने भीतर जरा भी दृष्टिपात नहीं करता है ।

पांच इन्द्रिय और मन इन छः द्वारोंसे यह अज्ञानी प्राणी विचरता हुआ जगतके पदार्थोंमें राग, द्वेष, मोह करता रहता है । यदि यह इन छहों द्वारोंसे भ्रमण करना बन्द करदे व अपने ही

भीतर विश्रांति ले ले तो इसे सहज हीमें सहज सुख प्राप्त होजावे। उपयोगको उपयोगवान आत्मामें स्थिर करते ही सहजानंदका स्वाद आजाता है।

आत्माके स्वभावकी श्रद्धा तथा ठीक २ पहचान आवश्यक है। जबतक उस सरोवरको न जाने जिसमें परम मिष्ट जल है व उस सरोवरपर पहुंचनेका मार्ग न जाने तबतक कोई भी सरोवरके जलका मिष्ट स्वाद नहीं पासकता है।

मैं आत्मा हूँ, सर्व परसंगसे रहित हू, असंग हूँ, बन्ध रहित हूँ, एकरूप हूँ, निश्चल हूँ, अभेद हू, असँयुक्त हूँ, निर्विकार हू, परम शुद्ध हूँ, अमूर्तीक हूँ, पूर्णज्ञान स्वरूप हूँ, पूर्ण वीर्य स्वरूप हूँ, पूर्ण सम्यक्त सहित हूँ, पूर्ण चारित्र सहित हूँ, पूर्ण सहजानंद स्वरूप हूँ। मेरा स्वभाव अमिट है, अविनाशी है। जिसको परमात्मा, ईश्वर, परब्रह्म व परम प्रभु कहते हैं वही तो मैं हूँ। मेरे स्वभावमें न परका कर्तापना है न परका भोक्तापना है। यही स्वभाव परमात्माका है। मैं मलीनता रहित शुद्ध जलके समान व शुद्ध वस्त्रके समान हूं। यही श्रद्धा व यही ज्ञान सच्चा है, सम्यक् है, निश्चय है।

अब यही उचित है कि मन, वचन, कायकी गुप्तिका किला बनाऊँ व उसीमें विश्राम करूँ। इन द्वारोंके खुले रहनेसे अनेक विचार आते हैं, कर्माश्रव होते हैं, बंधकी बेडियां पड़ती हैं। दृढतासे मन वचन कायको संवर करके मैं आपसे ही आपमें देखता हूं। मैंने छहों द्वारोंसे देखना बन्द कर दिया है। तब फिर क्या

है । मुझे बड़ा ही रमणीक आत्मीक उपवन दिख जाता है । इस उपवनमें रमण करता हुआ इसीका उपभोग करता हुआ जो सुख शांति पाता हूं वही सहजानंद है । इसीका भोग मोक्षमार्ग है व यही मोक्ष है ।

३०—सच्ची अग्नि ।

ज्ञान दृष्टिका धारी सहजानन्दके लिये आतुर है । जगतमें अनादिकालसे प्राणी पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें निरन्तर संलग्न रहते हैं । नाना प्रकारका उद्यम करके भोग सामग्रीको प्राप्त करते हैं । वारवार भोगते हैं परन्तु तृष्णा घटनेकी अपेक्षा बराबर बढती चली जाती है । ज्ञानीने ज्ञान दृष्टिसे इन सुखोंकी असारताको पहचान लिया है कि सहज सुख निज आत्माका ही स्वभाव है । रागद्वेष मोहके मैलका अंधेरा इतना छाया हुआ है कि जिस अंधकारमें दृष्टि उस रत्नत्रयमई आत्माके स्वभावपर नहीं जाती है जो विलकुल शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार है । उसे ही परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, जिन, बुद्ध, महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, समदर्शी, ज्योतिस्वरूप, आनन्दमय, अमूर्तीक परम प्रभु कहते हैं ।

जिस ज्ञानीने पुरुषार्थ करके अपनी दृष्टिसे सर्व जगतको हटाया है, सिवाय निज आत्माके सर्वसे राग द्वेषका प्रसंग निवारा है, सर्वसे पूर्ण वैराग्य प्राप्त किया है । परमाणु मात्र परको अपना मानना त्याग दिया है । अपना सर्वस्व निज आत्माकी ही सेवामें अर्पण कर दिया है । निज आत्माको ही अपना देव मानकर उसकी भक्तिमें अपनेको न्यौछावर कर दिया है । केवल पौद्गलिक शरीर

व वचनसे नहीं किन्तु अपने आपका सर्वस्व अपने आपमें ही ऐसी भक्तिपूर्ण लग्नके साथ जोड़ दिया है कि दोके स्थानमें एकता होगई है। पूजक, पूज्य, ध्याता, ध्येय, बंद्य वंदकका द्वैत भाव मिट गया है, अद्भुत अद्वैतता प्राप्त होगई है। ऐसी गाढ़ आसक्ति जिस महात्माकी अपनेसे होजाती है कि उसके पीछे वह चक्रवर्तीकी सम्पदाको भी त्याग देता है। सर्व परिग्रह त्यागकर नग्न होजाता है। सर्व रसोंका स्वाद त्यागकर निज रसके स्वादका रसिया होजाता है। उसी महात्माको सहजानंदका स्वाद आजाता है। सहजानंदका मार्ग ही परम भोग है। इससे आत्मा पुष्ट होता है। यही वह शस्त्र है जिससे कर्मवैरियोंका ध्वंश कर दिया जाता है। कोई बड़ा कठिन तप करते हैं। मास छः मासका उपवास करके शरीरको सुखाते हैं। भूख प्यासकी घोर वेदना सहते हैं परन्तु दृष्टि शरीरकी तरफ रहती है। उनको वह अग्नि नहीं मिलती है जो कर्मोंको दग्ध कर सके। परन्तु जो ऐसा कठिन तप नहीं करते हैं या कभी जरूरत हुई तो करते भी हैं परन्तु अपनी दृष्टि शरीर व शरीरके सुख दुःखसे छुड़ाकर केवल निज आत्माके भीतर जोड़ते हैं और उसके भीतर रत होकर सहजानंदका पान करते हैं उनके कर्म क्षणमात्रमें दग्ध होजाते हैं। यदि जीवनका फल लेना हो तो यही कर्तव्य है कि सबसे मुंह मोड़ आप अपने स्वरूपसे नाता जोड़, उसीमें अपनेको जोड़ देना चाहिये। यही योगाभ्यास है। यही ध्यानका प्रकार है। यही रत्नत्रयका साधन है। यही मोक्षका उपाय है व यही निरंतर सुखी रहनेका मंत्र है।

३१—सच्चा गंगाजल ।

ज्ञानदृष्टिका धारी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर जब एकांतमें बैठता है तब श्री गुरु द्वारा प्राप्त उपदेशका मनन करता है कि इस विश्वके मोहमें गृसित प्राणीको पर वस्तुओंकी तरफ राग द्वेष मोह करनेसे जो कल्पित सुख भासता है उससे कभी तृप्ति नहीं होती है, उल्टी तृष्णाकी दाह बढ़ती है। अतएव यथार्थ सुखको जो चाहता हो उसको सर्व अन्यसे मोह छोड़ एक अपने ही तरफ पूर्णपने सन्मुख होजाना चाहिये। स्वात्म सन्मुख होनेवाला प्राणी अवश्य सहजानन्दका स्वाद प्राप्त करता है, क्योंकि सहजानन्द निज आत्माका ही गुण है, जैसे शुद्ध मिष्ट जलकी कतिपय बूंदोंको भी पीनेवाला व्यक्ति मिष्ट जलके आस्वादको पाता है।

इस गुप्त उपदेशको स्मरण करके वह अपनी सत्ताको सम्हालता है कि मैं पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे, उनके गुणस्वभावोंसे, उनकी अनेक पर्यायोंसे ही निराला, निज गुण पर्यायवान् द्रव्य हूं। मैं न कभी जन्मा न कभी मरूँगा। मेरा सर्वस्व मेरे पास निरन्तर बना रहता है। अगुरुलघु गुणके प्रतापसे मैं अपनी निश्चित मर्यादाको कभी कम व अधिक नहीं करता हूं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि विशेष गुणोंको रखता हुआ भी मैं इनसे अभेद हूं। कोई भी कारण नहीं है जिससे कि एक भी गुण मेरेसे भिन्न हो सके। वह गुण मेरेमें सर्वव्यापक न होकर कहीं व्यापक व कहीं अव्यापक हो। हरएक गुण मेरेमें सम्पूर्ण भरा है। हरएक गुण हरएक दूसरे गुणमें व्यापक है। इसीलिये कहनेको गुणोंके भेद

हैं, परन्तु वास्तवमें उन सब गुणोंका समुदाय गुणी पूर्णपने अभेद है। मेरी आत्माकी सत्तामें वह सर्व संसार नहीं है जो पाप पुण्यकी विचित्रतामें बनता विगड़ता रहता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देव गतिके भीतर जितने भी वैभाविक व अशुद्ध भाव होते हैं, रागद्वेष मिश्रित परिणाम होते हैं व जितनी बाहरी शरीरकी रचना है व शरीरके सम्बन्धित पदार्थ हैं वे सब मेरे आत्माके स्वभावसे बाहर ही रहनेवाले हैं। मेरे कोई पर भाव उसी तरह स्पर्श नहीं करता है। जैसे प्रकाशको अन्धकार स्पर्श नहीं करता है। मैं एक निराला अखण्ड परम निर्मल स्वानुभवगोचर पदार्थ हूं ऐसा निश्चय-पूर्वक ज्ञानके भीतर ही मैं रमण करता हूं। स्वात्माके स्वरूपमें रमण करनेसे सर्व सांसारिक दुःख सुखके क्षणिक भाव विला जाते हैं और एक परम वीतराग सहजसुखका श्रोत वह निकलता है। उसके ही भीतर मैं स्नान करता हूं, वही मेरा गंगाजल है। उसका शांत जल पीता हूं, यही मेरा गंगाजल पान है। उसीमें मैं निमग्न होजाता हूं, यही मेरा मत्स्यवत् जलावगाहन है। यही मेरे जीवनका ध्येय है।

३२—परम सामायिक।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचोंसे रहित होकर जब संसारके स्वरूपका विचार करता है तो बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। जिसे वह अपना समझता था वही अपना नहीं रहता है। जितने संबन्धी हैं वे देखते देखते विलाते जाते हैं। जीवित रहते हुए भी वे स्वार्थके विना बात ही नहीं करते हैं। जिनका स्वार्थ नहीं सधता है वे उदास होजाते हैं। जगत स्वार्थके ऊपर स्थिर है। जगतकी वस्तुएं

देखते देखते रूपान्तर होजाती हैं। जिन पदार्थोंके सहारे पांचों इन्द्रियोंके भोग भोगे जाते हैं वे सब अपनी इच्छानुसार न तो बने रह सक्ते हैं और न इच्छानुसार वर्तन कर सक्ते हैं। उनके सहारे सुखकी कल्पना करना असार है, मोह है, पागलपन है, मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वके भावका त्यागना यद्यपि सुगम है, परन्तु मोहकी मदिराके मदमें बहुत ही दुर्लभ होरहा है। श्मशानभूमिमें जानेपर ही वैराग्य आता है, लौटतेर वह वैराग्य रफूचक्कर होजाता है। इस मोहके मदको दूर करनेका उपाय संतोंकी शरण है। संत शरणसे आंखे खुलती हैं। वे सम्यग्ज्ञानकी सलाई शिष्यकी ज्ञानचक्षुपर फेरते हैं, जिसके प्रतापसे धीरे२ मोहका मद उतर जाता है और ज्ञानकी दृष्टि साफ२ खुल जाती है। तब निश्चयनयकी मुख्यतासे वह दृष्टि देखने लगती है।

तब न कहीं देश है, न नगर है, न मुहल्ला है, न उपवन है, न मकान है, न दूकान है, न कोठी है, न वस्त्र है, न आभूषण है, न चटाई है, न पलंग है, न कुरसी है, न मेज है, न शस्त्र है, न शास्त्र है, न मंदिर है, न मूर्ति है, न नदी है, न समुद्र है, न पर्वत है, न तीर्थस्थान है, न सिद्धक्षेत्र है, न नरकभूमि है, न स्वर्गके पटल हैं, न जंबूद्वीप है, न धातुकी खण्डद्वीप है, न पुष्करार्ध द्वीप है, न लवणोदधि समुद्र है, न कालोदधि समुद्र है, न क्षीर समुद्र है, न सुमेरु पर्वत है, न पांडुक वन है, न पांडुकशिला है, न तिर्यंच गति है, न मनुष्यगति है, न कोई पक्षी है, न कोई पशु है, न मत्स्यादि जलचर जीव हैं, न आर्य मनुष्य हैं, न पृथ्वी है, न जल

है, न वायु है, न अग्नि है, न वनस्पति है, न शब्द है, न गंध है, न वर्ण है, न स्पर्श है, न कोई स्थूल है, न सूक्ष्म है, न तम है, न प्रकाश है, न छाया है, न बंध है, न मोक्ष है, न कोई संसारी है, न कोई सिद्ध है, न कोई मिथ्यात्वी है, न कोई मोही है, न कोई रागी है, न कोई द्वेषी है; न कोई क्रोधी है, न कोई मानी है, न कोई मायावी है, न कोई लोभी है; न कोई कृपण है, न कोई दानी है, न कोई हिंसक है, न कोई मृषावादी है, न कोई सत्यवादी है, न कोई चोर है, न कोई साहु है, न कोई परोपकारी है, न कोई अपकारी है, न कोई सम्यक्ती है, न कोई श्रावक है, न कोई मुनि है, न कोई उपशांतमोही है, न कोई क्षीणमोही है, न कोई केवली है, न कोई ऋषि है, न कोई गणधर है, न कोई श्रुतकेवली है, न कोई मतिज्ञानी है, न कोई श्रुतज्ञानी है, न कोई अवधिज्ञानी है, न कोई मनःपर्ययज्ञानी है। मात्र पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और सर्व जीव अपने मूल स्वभावमें ही दिखलाई पड़ते हैं।

अजीवोंमें कोई चेतना नहीं अतएव यह ज्ञानी सर्व जीवोंको परम शुद्ध ज्ञाता परम वीतराग देखकर यकायक शांतिमय और आनंदमय समुद्रमें मग्न होजाता है और परम समताभावरूपी सामायिकमें तिष्ठकर जिस अपूर्व संतोषको पाता है वह बिलकुल वचनोंसे अगोचर है।

३१-स्वानुभूतितिया।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पोंको त्यागकर जब अपने आप शांतचित्त होजाता है तब एक अपूर्व सुख पाता है जिसको

सहजानंद कहते हैं। यद्यपि वह आनंद अपने ही निकट है तथापि मिथ्यादृष्टी जीवको इसका स्वाद नहीं आता है। क्योंकि उसको अनादिकालसे अनात्माके कारण प्रगट होनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व काम विकारका स्वाद खारा ही आता है। वह स्वाद मूल पानीका नहीं है। अज्ञानसे या भ्रमसे वह उस स्वादको पानीका स्वाद जान लेता है, परन्तु वह स्वाद उस लवणका है जो खारे पानीके साथ घुला हुआ है। पानीका स्वाद कुछ दूसरा ही है। श्रीगुरु परम दयालु जिनको निज आत्माके सच्चे स्वरूपका यथार्थ स्वाद आगया है, परम करुणाभावसे जगतके प्राणियोंको सच्चे स्वादके अभावमें मलीन स्वादके लेनेसे आकुलित देखकर जगतके जीवोंको समझाते हैं।

हे भव्य जीवो! यह वैषयिक स्वाद रागका स्वाद है। जो आत्मा नहीं है पुद्गल है, इसे तुम आत्माका स्वाद मत जानो। एक दफे विवेकसे इस बातको समझ लो कि आत्मा राग रहित है, द्वेष रहित है, मोह रहित है, परम वीतराग ज्ञानमई अविनाशी है। इस श्रद्धाको प्राप्त होकर रागादि भावोंसे वीतरागताकी भावना करो कि वे अन्य हैं, मैं अन्य हूं। कुछ कालके अभ्याससे रागादि विकारोंसे उदासीनता आ जायगी तब उपयोग स्वयं वीतरागताकी ओर झुक जायगा। वीतरागता आत्माका चारित्र गुण है। इसी भेद विज्ञानके अभ्याससे कुछ काल पीछे आत्माका साक्षात्कार हो जायगा।

इसी प्रकाशको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके उदय होते ही सहजानन्द मेरे ही आत्माका गुण है, ऐसी दृढ़ प्रतीति होजाती है।

फिर यह ज्ञाता दृष्टा जब चाहे तब उस प्रतीतिका भोग करता है, जैसे गृहस्थ अपनी स्त्रीकी रुचि व प्रतीति रखता है। अन्य कामोंमें लगे रहनेसे वह अपनी स्त्रीका भोग नहीं करता है परन्तु जब चाहे तब स्वस्त्रीका उपभोग कर सकता है। वह स्वप्रियाका जितना २ अधिक रागी होता है उतना २ वह पर कामोंमें अधिक समय निकाल कर अपनी स्त्रीसे मित्रताका व्यवहार करता है। इसी तरह ज्ञाता निज स्वानुभूति प्रियाका परम प्रेमी होगया है। जितना २ प्रेम अधिक होता जाता है उतना २ वह अधिक स्वात्मानुभूतिका रमण करता है और अन्य कार्योंसे उदास होता जाता है। एक समय आता है जब सर्व परसे सदाके लिये वैरागी होकर निज स्वात्मानुभूतिके साथ एक—संलग्नता कर लेता है और मोक्षभावके आनन्दको भोगता रहता है।

३४—स्वराज्य लाभ।

ज्ञातादृष्टा एक आत्मा सर्व प्रपंचजालसे विरक्त होकर परम शांतिके साथ विचारता है कि सहजानंदका लाभ कैसे करूँ। उसको यह भलेप्रकार विदित है कि सहजानंद आत्माका एक गुण है, वह आत्मामें ही है व आत्मासे ही आत्माको प्राप्त होसक्ता है। अपनेमें होते हुए भी अपनेको नहीं मिलना केवल मात्र अपने प्रमादका ही दोष है। प्रमादको हटाते ही—कषायके झोकोंसे बचते ही ज्योंही यह आत्मा अपनी उपयोग भूमिकामें सम्हल कर बैठ जाता है त्यों ही इसे सहजानंदका लाभ होने लगता है। सहजानंदमई तो आत्मा है ही। सहजानंदका वह सागर ही है। फिर

उसको सहजानंदका लाभ होना चाहिये यह बात भी बनती नहीं है। वास्तवमें आत्माका आत्मस्थ रहना नहीं होनेसे सहजानंदका लाभ नहीं है ऐसा कहना पड़ता है। यदि यह आत्मस्थ रहे तो यह स्वयं सहजानंदका सागर ही है। रागद्वेषादिकी कल्लोलोंके कारण आत्मारूपी समुद्र निश्चल नहीं रहता है। इसीसे स्वात्मवेदनको न प्राप्त करके परवेदन करता हुआ सहजानंदके लाभसे वंचित रहता है। यदि रागद्वेषादिकी लहरें मिट जावें और समुद्र समान यह आत्मा परम तत्वके साथ स्थिर होजावे तो यह स्वयं सहजानंदका स्वामी है। उसे फिर सहजानंदके प्राप्त करनेकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है।

रागद्वेषादि कैसे मिटें यह एक बड़ा विकट प्रश्न है। राग द्वेषादि मोहनीय कर्मका विकार है। मोहनीय कर्मसे वैराग्य रख करके उससे उपेक्षा रखना ही राग द्वेषके मिटनेका उपाय है। निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माको सिद्धसम शुद्ध देखना जानना श्रद्धान करना व अनुभव करना यही एक उपाय है, यही एक मंत्र है, यही एक औषधि है जिससे सर्व पर सम्बन्धका वियोग होता है। मैं परम शुद्ध स्वरूप हूं, यही मनन आत्माके वैरियोंकी शक्तिको क्षीण करनेवाला है। अपनी जागृति, अपनी अनुभूति, अपनी तृप्ति, अपना ही लक्ष्य, अपना ही सन्मान, अपना ही आदर, अपना ही पूजन अपने बलके विकासका ही उपाय है।

शुद्ध दृष्टि शुद्ध पदार्थको दर्शन करानेवाली है, अशुद्ध पदार्थकी तरफ ले जानेवाली है। अनादिकालसे अशुद्ध दृष्टिके द्वारा यह

देखता रहा है। अब यदि उस आदतको त्यागे और शुद्ध दृष्टिके द्वारा शुद्ध पदार्थका अवलोकन करे, वार २ करे, पुनः २ करे, प्रेमालु होकर करे, आसक्त होकर करे तो दृष्टिमें वही मनमोहनी सूरत जमती जाती है। और धीरे २ पर सन्मुख रहनेवाली दृष्टि सकुचित होती जाती है। शुद्ध दृष्टिसे देखना ही स्वराज्य स्थापनका कारण है, स्वतंत्र होनेका उपाय है। यही सहजानंदके सतत भोगका उपाय है। अब मैं शुद्ध दृष्टिसे ही देखनेका अभ्यास करूंगा जिससे शुद्धात्माका पद २ पर दर्शन हो। और रागद्वेषकी गंध भी न प्राप्त हो, जिससे मैं सहजानंदका सतत् भोग कर सकूं।

३५-आत्म सरोवरका निर्मल जल।

ज्ञाता दृष्टा स्वभावधारी एक महात्मा सर्व पपंचजालोंसे मुक्त होकर एकान्तमें वास करता है और इस वातका प्रयत्न करता है कि किसी भी तरह सहजानंदका लाभ हो। सहजानंद कहीं और नहीं है, अपने ही पास है। सच पूछो तो हरएकके भीतर पूर्ण रूपसे भरा है। इसे कुछ भी प्राप्त करना नहीं है। परन्तु रागद्वेष मोहके अंधकारसे आच्छादित है। यह अंधकार पुद्गल कर्मोंके संयोगसे होरहा है। यह संयोग आत्माके साथ अनादिकालका है। क्योंकि यदि कभी आत्मा शुद्ध होता तो फिर वह कभी अशुद्ध नहीं होसक्ता था। पुद्गलमें भी अपूर्व शक्ति है। मोहनीय कर्मरूपी पुद्गलमें एक प्रकारकी मादक शक्ति है जिसके प्रभावसे यह त्रिजगत प्रधान जीव अपने निज स्वरूपको भूलकर बेमान होरहा है और यही कारण है जो ऐसा विचार करना पड़ता है कि सहजा-

नंदका लाभ नहीं है उसे प्राप्त करना चाहिये। भेदविज्ञानका सच्चा विचार इस बातका विश्वास करा देता है कि मेरे निज आत्माका स्वभाव ही सहजानंद रूप अमूर्तीक ज्ञान दर्शनमय अविनाशी है। इस अपने स्वरूपका दृढ़ विश्वास होकर जब परिणतिमें स्व स्वरूपकी रुचि जम जाती है तब उपयोग परपरिणतिसे विरागी होकर स्व स्वरूपके सन्मुख होता है। यही सन्मुखता जब बढने लगती है तब सहजानंदका स्वाद आने लगता है।

जगत एक प्रपंच जाल है। जैसे क्षीर समुद्रके समान किसी सरोवरका मिष्ट व शांत जल हो और उसपर घासका आच्छादन पड़ा हो, तब बाहरी दृष्टिवालेको वह सरोवर नहीं दीखता है वैसे प्रपंचजालके आच्छादनसे बहिरात्माको आत्माका स्वभाव नहीं दिखता है। चतुर मानव घासके आच्छादनके भीतर स्वच्छ जलको पहचानता है और जब चाहे तब उस सिवालको हटाकर निर्मल पानीका लाभ कर लेता है, उसे पानकर शांतरसका स्वाद पाता है, उसी तरह अंतरात्मा सम्यग्दृष्टी प्रपंच जालके भीतर स्वस्वरूपको पहचानता है। जब चाहे तब उस जालको हटाकर स्वाभाविक आत्मानुभवको पाकर सहजानंदका स्वाद पा लेता है। सम्यग्दृष्टी अंतरात्माके हाथमें सदा ही सहजानंदका लाभ है।

सहजानंदका स्वाद आना ही मोक्षका साधन है। यही वह औषधि है जो कर्म रोगको शांत कर देती है। धन्य हैं वे प्राणी जो इस विकट संसारवनमें भ्रमण करते हुए भी सहजानंदके स्वादको पाकर अपने जीवनको सफल कर लेते हैं—संसार यात्रामें मोक्ष-

यात्राका लाभ लेते हैं। इनहीको महात्मा कहते हैं। इनको जगतका काम करते हुए व सुख दुःख भोगते हुए देखनेमें आता है परन्तु वे करते हुए भी अकर्ता हैं, भोगते हुए भी अभोक्ता हैं। उनकी रुचि संसारके कार्योंमें नहीं है। वे कर्मकी प्रेरणासे करते व भोगते हैं। जैसे बालक पढनेकी रुचि न रखता हुआ माता, पिता, गुरुके भयसे पढता है, सीखता है, पुस्तक देखता है, तौभी रुचि विना न पढनेके समान है, इसी तरह ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच करते हुए भी उदासीन है, क्योंकि उसको सहजानंदका पता है, उसे सहजानंदका स्वाद मिल सक्ता है। वह सहजानंदका रोचक बन गया है, इससे वह परम संतोषी व शांत है।

३६-ज्ञानसागरका स्नान।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच जालोंसे अलग होकर एकांतमें बैठकर अपने आपके स्वरूपका विचार करता है, तब इसको यह भासता है कि मैं तो एक अनुभवगम्य पदार्थ हूं। मनमें शक्ति नहीं है जो विचार करे, वचनोंमें शक्ति नहीं है कि कथन कर सके, तब फिर अनुभव कैसे हो। इस चिन्ताको करते ही उसको यह बात सूझी कि गुरु महाराजने भेदविज्ञानका उपदेश दिया है, इसीको ग्रहण करना चाहिये। भेदविज्ञानसे ही आत्मबोध होगा। जैसे धानके भीतर भेदविज्ञानसे चावल अलग और भूसी अलग नजर आती है, तिलोंके भीतर तेल अलग और भूसी अलग दीखती है, गरम पानीके भीतर अग्नि अलग और पानी अलग नजर आता है, बने हुए सागके भीतर साग अलग और लवण अलग दिखता

है, दूध और पानीके मिश्रणमें इसको दूध अलग व पानी अलग दिखता है, एक गुटिकाके भीतर वैद्यको पचासों औषधियें अलगर दिखलाई पड़ती हैं, इसी तरह भेदविज्ञानीको यह अपना आत्मा औदारिक, तैजस, कार्माण शरीरोंसे, रागद्वेषादि भावोंसे व अन्य सर्व आत्माओं व अनात्माओंसे जुदा नजर आता है।

जैसे चावलका इच्छुक धान्यके भीतर छिलकेको छोड़कर चावलको ग्रहण कर लेता है वैसे भेदविज्ञानी महात्मा सर्व अनात्माको छोड़कर एक अपने ही आत्माको ग्रहण कर लेता है। जिस बुद्धिसे आत्माको परसे अलग किया था उसी प्रज्ञा बुद्धिसे आत्माको ग्रहण करना चाहिये। आत्माको ग्रहण करते समय अपने उपयोगको बहुत ही गुप्त एक आत्माकी गुफामें प्रवेश कराना पड़ेगा। इसके लिये साधकको परम वैराग्यवान होकर अपने आपका परम-प्रेमी होना चाहिये। जहां प्रेम होता है, जहां श्रद्धा होती है, जहां दृढ रुचि होती है वहीं उपयोग अपने स्वरूपमें जमने लगता है। वास्तवमें जिसको जानना है व जिसका स्वाद लेना है वह कोई पर नहीं है, आप ही है।

अपने आत्माको एक ज्ञानसागर मानना चाहिये। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र रत्न भरे हुए हैं। उसके भीतर परम शांति है। उसमें खारापन नहीं है, किन्तु परमानंदमई मिष्टता है। जो इस ज्ञानसागरके भीतर स्नान करते हैं व उसीके शांत रसका पान करते हैं वे परम तृप्त होजाते हैं। सहजानंद आत्माका स्वभाव है। सहजानंदका प्रेमी ही सहजानंदको पाता है।

इस आनंदकी उपमा जगतमें किसी वस्तुसे नहीं दी जासकती है। धन्य हैं वे सम्यग्दृष्टी जीव जो इस आनंदको पाकर परम तृप्त रहते हुए अपने जन्मको सफल कर सिद्ध समान सुखी रहते हुए ज्ञान-मग्न रहते हैं।

३७-सत्य हिमागार।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंको छोड़कर सहजानंद-पानके हेतुसे एक स्थलपर विश्राम करता है और सहजानंदके लिये भावना करता है, तब उसे विचार आता है कि सहजानंद तो आत्माका गुण है अतएव सहजानंदके लिये आत्माके भीतर ही रमण करना पड़ेगा। आत्माके सिवाय जितने और द्रव्य हैं, गुण हैं, पर्याय हैं उन सबसे उपयोगको हटाना होगा और एक आत्माके ही द्रव्य, गुण, पर्यायपर लक्ष्य लाना होगा। गुण पर्यायके विचारको भी गौण कर आत्मा रूपी द्रव्यमें एकतानतासे विश्राम करना होगा तब ही सहजानंदका लाभ होगा।

सहजानंदका लाभ होते हुए जितने इन्द्रिय व मनके विकल्प हैं वे सब मिट जाते हैं, छः रसोंके स्वाद सब हट जाते हैं। आत्मीक रसका निराला ही स्वाद आता है। इस स्वादकी उपमा जगतमें किसी भी स्वादसे नहीं होसक्ती है।

आत्मीक रसका वेदन सिद्धोंके सुख वेदनसे किसी भी तरह कम नहीं है। यहीं वह हिमागार है जहां वीतरागताकी अपूर्व शांति ही शांति है। यहीं वह क्षीरसमुद्र है जहां स्वानुभवरूपी जलका प्रवाह बह रहा है। यहीं वह कमलोंका मनोहर वन है, जहां

स्वात्मीक सुखकी सुगन्ध फैल रही है । यहीं वह अनुपम स्फटिक-मणिकी शिला है, जहां ऐसी स्वच्छता है कि उसमें सर्व जगतके पदार्थ जैसेके तैसे झलकते हैं, तथापि उसमें कोई विकार नहीं होता है । यहीं वह रमणीक क्षेत्र है जहां सर्व सुन्दरता ही सुन्दरता है, जहां समताका ही राज्य है, जहां कोई आकुलताकी मलीनता नहीं है । यहीं वह सुमेरुपर्वत है जहां पर आत्मानुभवी मुनि पांडुक शिलापर तिष्ठ कर आत्माके तत्वका मनन करते हैं । यहीं वह नाटकशाला है जहां सर्व ही विश्वके पदार्थ अपने गुण व पर्यायोंके साथ जैसेके तैसे झलकते हैं, तथापि दृष्टा ज्ञाताको विकारके कारण नहीं होते हैं ।

इस तरह एक अद्भुत स्थान व सामानके मध्यमें तिष्ठा हुआ एक आत्मानुभवी आत्मा सहजानंदका भोग करता हुआ अपनेको सिद्धसे किसी तरह कम अनुभव नहीं करता है । जब स्वात्मानुभव होता है तब वहां सिद्ध संसारीका भेद, गुणगुणीका भेद कुछ नहीं रहता है । आत्माका नाम भी उड़ जाता है । नाम रहित व गुणोंकी कल्पना रहित एक अद्भुत पदार्थ झलकता है, जिसकी उपमा जगतमें किसी पदार्थसे नहीं होसक्ती है । ऐसा सहजानंदी जीव परम समतासे जिस संतोषमें रमण कर रहा है वह वचन अगोचर आनन्दका धाम है ।

३८–तृष्णादाह शमन ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे छूटकर एकांतमें विचार करता है कि सहजानंद कैसे प्राप्त हो । उसने यह भलेप्रकार अनु-

भव कर लिया है कि इन्द्रिय विषयोंके सुखोंसे किसीको भी संतोषका लाभ नहीं होता है, किन्तु आकुलता व चिन्ता बढ़ती ही जाती है। कभी वियोगकी आग सताती है, कभी तृष्णाकी दाह परेशान करती है। सहजानंदके विना संतोषका मिलना वैसे ही कठिन है जैसे जल वर्षाके विना आगका बुझना कठिन है। हम घीसे चाहें तो आग न बुझेगी, उसके लिये तो जल ही चाहिये। तृष्णाकी दाह शांत करनेके लिये शांत रसपानेकी जरूरत है। यह शीत रस आत्माके स्वभावमें पूर्णरूपसे भरा है।

इस कारण बुद्धिमान प्राणीको योग्य है कि यह किसी भी तरह अपना पल्ला सर्व अनात्माओंसे छुड़ाले। और निश्चित होकर एक आत्माहीकी तरफ उपयुक्त होजावे। आत्माके सरोवरमें ही स्नान करे, आत्मीक आनन्दरूपी रसका ही पान करे, सहजानंद तब ही हाथमें आजायगा। यह सहजानंद अनादिकालकी तृषाको मिटा देता है। बड़ी भारी आकुलताको शमन कर देता है। यह सहजानंद ही वह सर्वोच्चता है जिसके सामने चक्रवर्तीके भोग, इन्द्रका ऐश्चर्य सब तुच्छ है। यही कारण है कि सहजानंदके भोगी योगीको सर्व ही बड़े २ गृहस्थ, इन्द्र, धरणेन्द्र व अन्य योगी भी नमन करते हैं। क्योंकि उन्होंने जीवन सुखदाई जीवको अमर बनानेवाले अमृतको पालिया है।

सहजानंदका लाभ परम लाभ है। उसके हाथमें मुक्ति आजाती है, उसको वह कला मालूम हो जाती है जिसके बलसे वह पूर्व बंधे हुए कर्मोंके अच्छे व बुरे फलको भोगता हुआ भी

अभोक्ता रहता है। जिसके प्रतापसे वह गृहस्थोंमें रहते हुए भी साधुवत् भावोंका स्वामी होता है। सहजानंदका भोक्ता समताभावमें रमण करता है।

मोक्षद्वीपमें न रहते हुए भी वह मोक्षके आनन्दको लेता है। सहजानन्दका भोग ही वह भोग है जो आत्माको बन्धनोंसे छुड़ाकर मुक्त कर देता है। सहजानंदका लाभ परम अद्भुत रसायन है जो कषायोंके विषको दमन कर देती है। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानंदके स्वामी आत्माको पहचानकर निज व परको सबको समान भावसे देखते हैं। वे रागद्वेषके झगड़ोंसे बच जाते हैं।

जीवनकी सफलता सहजानंद रसपानसे है। बुद्धिमान मानवको उचित है कि सर्व जगतके झगड़ोंको अनासक्तिके भावसे देखकर निज आत्माके बागमें क्रीड़ा करनेका उद्यम करें। इसीसे वह शांतिको लाभ करता हुआ परमात्मापदकी तरफ बढ़ा हुआ चला जायगा और सदा ही संतोषमें रमण करेगा।

३९–शिवकन्याका वर।

ज्ञाताद्रष्टा आत्मा अनात्माकी अनादि संगतिसे अपने रूपको भूलकर तथा अपने सहजानंदको भी भूलकर इन्द्रियजनित सुखका ही मोही होरहा है। इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोगसे व शरीर पीड़ासे रातदिन आतुर रहता है व विषयोंकी दाहमें जलता रहता है। इच्छानुकूल वस्तु न पाकर घबड़ाता है। वस्तु पाकर भी और अधिक इच्छाओंको बढ़ा लेता है। एक दिन शरीर छूट जाता है तब निराश दशामें ही मर जाता है। खेद है कि यह मानव मानवजन्मको वृथा ही

खोदेता है। श्री गुरुने उस प्राणीको आकुलित देखकर इसको उपदेश किया कि हे प्राणी! पराधीन सुखके लिये क्यों वृथा कष्ट पारहा है? अपने भीतर देख तो तुझे उस परमप्रिय सहजानंदका पता लग जायगा। इस सहजानंदके अनुभवसे जन्म जन्मका दाह मिट जाता है, परम शांतिका लाभ होता है।

इस गुरुकी वाणीको सुनकर यह चेतता है और बड़े भावसे देखता है कि आत्मा कहां है। आत्माको देखनेके लिये इसे अपनी वृत्तिको सर्व परपदार्थोंसे हटाना पड़ता है. सारे मोहजालको बलात्कार त्यागना पड़ता है।

अपने पास तीन शरीर हैं—कार्माण, तैजस, औदारिक। उनके भीतर झांकना पड़ता है। कर्मोंके असरसे जो रागादि भाव होते हैं उनसे भी चित्तको हटाना पड़ता है। मन, वचन, कायके योगोंसे जो आत्मामें चंचलता होती है उसे भी त्यागना है। सिद्धके समान शुद्ध आत्माको पहचानकर उसीमें गोता लगानेका अभ्यास करना है। तथा जैसे महामत्स्य पानीमें रहता है, पानीको पीता है, पानीसे अपना जीवन समझता है, उसी तरह वह अपने ही क्षीर समुद्र समान आत्मामें रमण करके उसीके शांति जलको पीता है और परम तृप्तिको पाता है।

सहजानंद रससे पूर्ण वह आत्मा है; इसीका श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण ही वह मार्ग है जिससे आत्मामें रमण होता है। अज्ञानी आत्मज्ञानके पाने हीसे ज्ञानी होजाता है। जिसने सहजानंदका पता पाया वह इन्द्र, धर्णेन्द्र, चक्रवर्तीकी सम्पदासे भी अधिक-

सम्पत्तिका स्वामी होजाता है। सहजानंद वह रसायन है जिससे आत्मा परमपुष्ट होजाता है।

इसी रसायनके सेवनसे एक दिन अनन्तबली होजाता है। सहजानंदका प्रेमी ही सम्यग्दृष्टी है, वही ज्ञानी है, वही वीतरागी है, वही महात्मा है, वही संत है, वही अंतरात्मा है, वही शिव कन्याका वर होगा। वह संसारमें रहते हुए अपनेको सिद्धसम शुद्ध अनुभव करके सिद्ध सुखका सा आनंद लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

४०—अपना अटूट धन।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित होकर यह विचारता है कि मैं क्या हूं और मेरी वर्तमानमें क्या अवस्था होरही है। इसको जब शरीरका संग याद आता है तब बड़ा ही विषाद प्राप्त होता है कि सूक्ष्म कार्माण शरीरकी संगतिसे मेरे इस आत्माकी कैसी दुर्व्यवस्था हुई है। यह पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, वनस्पति पांच प्रकारके स्थावरोंमें बहुत ही भयानक कष्टोंको पाचुका है। मानवों व पशुओंके व्यवहारसे बड़ी निर्दयताके साथ रौंदा गया है, छीला गया है, पटका गया है, काटा गया है, भेदा छेदा गया है, औंटाहा गया है। लट, पिपील, मक्खी, भँवर, असैनी, सर्वकी द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय असैनीकी योनियोंमें बड़ी ही तकलीफें सही हैं। सबलोंके द्वारा खाया गया है। जन्म मरणके भयानक दुःख सहे हैं। सैनी पंचेन्द्रिय पशु पर्यायमें अतिभारारोपण, भूख-प्यास सहन, क्रूर जीवोंद्वारा वध बंधनके असहनीय दुःख सहन किये हैं। मानव गतिमें भी इष्टवियोग अनिष्ट संयोगके अपार

दुःख पाए हैं। नारकी व देव होकर भी शारीरिक व मानसिक दुःखोंसे दुःखी रहा हूं। मेरे आत्माने चारों गतियोंमें भ्रमणकर अपार कष्ट पाया है। उनके याद करनेसे बड़ा ही पश्चाताप होता है। इन सब कष्टोंका कारण मेरा ही राग द्वेष मोहसे बांधा हुआ पाप कर्म है। मैंने अबतक अपने स्वरूपकी पहचान नहीं की। अपने सच्चिदानन्दमई शुद्ध स्वभावको नहीं सुना। अपने स्वभावसे प्रीति नहीं की। अपने धनकी सम्हाल नहीं की। जो सहजानंद अपने ही पास भरा है उसका स्वाद नहीं लिया। अब मुझे श्रीगुरुने बता दिया है कि सच्चा सुख आत्मा हीका स्वभाव है, वह आत्मा हीमें रमण करनेसे प्राप्त होगा। बस, यह इस बातकी चेष्टा करता है कि मैं भेदविज्ञानके प्रतापसे जो कुछ मैं नहीं हूं उसको अपनेसे दूर करदूं। यह अपने भावोंमें सर्व ही मन, वचन कायकी क्रियाओंको हटाता है। और तो क्या, आठों कर्मोंके तीव्र या मंद उदयसे जो कुछ चेष्टाएँ होसक्ती हैं उन सबको अपनी बुद्धिसे भिन्न करता है। यों कहिये कि तीन लोककी सर्व पर्याएँ जो स्वाभाविक नहीं हैं वैभाविक हैं वे इसकी बुद्धिसे हटजाती हैं। यह केवल अपने ही आपमें विश्राम करता है। जब यह आपसे ही एकाग्र होजाता है तब वहां परम स्वानुभव प्राप्त होजाता है। इस स्वानुभवके जगते ही अपूर्व आनन्दका स्वाद आजाता है, सहजानंदका भोगी होजाता है।

सहजानंद अपना ही अटूट धन है। मिथ्यात्वीको खबर नहीं पड़ती है। इससे वह असत्य सांसारिक सुखकी तृष्णामें फँसा रहता

है और उसके संयोग वियोगमें हर्ष विषाद करके आकुलित रहता है। निराकुल सुखका स्वाद ही नहीं पाता है।

जीवनकी सफलता निराकुल सुखके स्वादमें है। भेदविज्ञानी महात्मा भेदविज्ञानके प्रतापसे इस सुखको जब चाहे तब पासक्ता है और किसी भी अवस्थामें हो अपने जीवनको सुखमई बिताता है। सहजानंदका भोगी परमात्माके समान आनन्द भोगी है। वह अपने आत्माको सदा मोक्षरूप ही अनुभव करता है। उसके सामने यह सर्व जगत एक प्रकारका तमाशा दिखता है। ऐसा सम्यक्ती जीव सदा सुखी रहता है। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानंदके भोक्ता होते हुए परम तृप्त रहते हैं।

४१–अखंड दुर्ग।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे छूटकर जब विचार करता है तब उसको विदित होता है कि वह बहुत बड़ी आकुलताके चक्रमें फंसा है। आकुलताका कारण भी यही है कि वृत्ति परपदार्थोंमें चली जाती है। जब वह वृत्तिको रोकता है तो वह रुकती भी नहीं है। परपदार्थोंमें जानेसे उसको सहजानंदका स्वाद नहीं आता है। क्योंकि सहजानंद कहीं बाहर नहीं है, वह तो एक अपने आत्मा हीमें है। जो कोई अपनी वृत्तिको आत्मस्थ करेगा उसीको सहजानंदका स्वाद आयगा।

वृत्ति रोकनेका मूल उपाय पक्का श्रद्धान है। जहां जिसकी रुचि होती है वहीं उसकी वृत्ति चली जाती है। श्रद्धा होनेका उपाय उस पदार्थके स्वरूपका ठीक२ ज्ञान है। आत्मा अपने स्वरूपसे शुद्ध

है, निर्विकार है, ज्ञान दर्शन स्वरूप है, अविनाशी है, वीतराग है, अमूर्तीक है, अखंड है। असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीरप्रमाण विराजित है। यही परमानंद स्वरूप है। इसका स्वभाव श्री सिद्ध परमात्माके समान है। ऐसा दृढ़ निश्चय करनेकी जरूरत है। रागादि भाव, क्रोधादि भाव सर्व अशुद्ध भाव हैं। यह सर्व मोहनीय कर्मकृत विकार है। मोहनीय कर्म जड़ है, पुद्गल है, मेरे स्वभावसे भिन्न है। इसी तरह ज्ञानावरणादि सर्व ही द्रव्यकर्म भी मेरे स्वभावसे भिन्न हैं। इसी तरह शरीरादि नोकर्म भी मेरे स्वभावसे भिन्न हैं। मैं तो भाव-कर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे निराला हूं। जैसे स्फटिकमणिके साथ काले, नीले, पीले, लाल डाकके सम्बन्धसे स्फटिककी निर्मलता ढक जाती है और उसके स्थानपर वर्णपना झलक जाता है उसी तरह मेरे वीत-राग स्वभावमें रागद्वेषका झलकाव कर्मसंयोगके कारणसे है। इस तरह आत्माके यथार्थ स्वरूपकी भिन्नताका मनन करते रहना ही आत्माकी श्रद्धाका कारण है।

दीर्घकालके अभ्याससे दृष्टि अपने स्वरूपकी पहचानपर उसी तरह जम जायगी जिस तरह एक जौहरीकी दृष्टि सच्चे झूठे रत्नकी परीक्षासे जम जाती है। दृष्टिके जमते ही श्रद्धाका अंकुर स्फुरायमान होजायगा। फिर भी आत्माका मनन जारी रखना चाहिये। चिरकालके अभ्याससे दृष्टि और भी अधिक परिपक्व होजायगी फिर ऐसी दशा होजायगी कि जब चाहो तब एक ज्ञानी आत्माके यथार्थ स्वरूपपर परिणामको ले जासक्ता है। और अपनी वृत्तिको स्थिर रख सक्ता है। वृत्तिका जमना ही आत्मस्थ होना है। आत्मस्थ होने

हीसे सहजानंदका लाभ होता है। सहज्ञानंदके खोजीको उचित है कि आत्मस्थ होनेका अभ्यास डाले।

वास्तवमें रहनेलायक ठिकाना तो एक अपने आत्माका ही दुर्ग है जिसमें शुद्ध ज्ञान व आनन्द भरा है। जिसके भीतर कोई पुद्गलकी कालिमा नहीं है, कोई मलिनता नहीं है, जिस दुर्गको कोई ढा नहीं सक्ता है, जो अखण्ड व अविनाशी है व शुद्ध है, ऐसे दुर्गका वासी होकर यह आत्माराम सदा ही चिद्विलास करता हुआ परम सुखी रहता है व सहजानंदका निराबाध उपभोग किया करता है।

४२–मेरा अनिर्वचनीय स्वरूप।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकारोंसे रहित होकर सहजानन्दके लिये अपने ही निज स्वरूपमें प्रवेश करता है। उस निज स्वरूपमें देखनेको जाता है तो वहां न वर्ण है न गंध है, न रस है न स्पर्श है, न राग है न द्वेष है, न क्रोध है न मान है, न माया है न लोभ है, न अनन्तानुबन्धी कषाय हैं, न अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, न प्रत्याख्यानावरण कषाय है, न संज्वलन कषाय है, न हास्य है न रति है, न अरति है न शोक है न भय है, न स्त्रीवेद है, न पुंवेद है, न नपुंसक वेद है, न ज्ञानावरण कर्म है न दर्शनावरण कर्म है, न मोहनीय कर्म है, न वेदनीय कर्म है, न आयुकर्म है, न नामकर्म है, न गोत्रकर्म है, न अन्तराय कर्म है। न आर्तध्यान है, न रौद्रध्यान है, न धर्मध्यान है, न शुक्लध्यान है। न वहां नरकगति है, न तिर्यंचगति है, न मनुष्यगति है, न देवगति है, न वहां स्पर्शन

इन्द्रिय है, न घ्राणइन्द्रिय है, न चक्षुइन्द्रिय है, न कर्णइंद्रिय है, न वहां मन है, न वचन है, न काय है, न वहां सत्य मन वचनयोग है, न असत्य मन वचन योग है; न उभय मन वचनयोग है, न अनुभय मन वचनयोग है, न औदारिक काययोग है, न औदारिक मिश्र काययोग है, न वैक्रियिक काययोग न वैक्रियिक मिश्र काययोग है, न आहारक काययोग है, न आहारक मिश्र काययोग है, न कार्माण काययोग है। न वहां हिंसा है, न असत्य है, न स्तेय है, न अब्रह्म है, न परिग्रह है। न वहां एकांत मिथ्यात्व है, न विपरीत मिथ्यात्व है, न संशय मिथ्यात्व है, न विनय मिथ्यात्व है, न अज्ञान मिथ्यात्व है। न वहां कोई प्रमादभाव है न वहां कोई आप सिवाय भिन्न जीव है, न वहां कोई पुद्गलके अणु व स्कन्ध हैं, न धर्मद्रव्य है, न अधर्मद्रव्य है, न आकाश द्रव्य है, न कालाणुरूप कालद्रव्य है, न भावास्रव है, न द्रव्यास्रव है, न भावबन्ध है, न द्रव्यबन्ध है, न भावसंवर है, न द्रव्यसंवर है, न भावनिर्जरा है, न द्रव्यनिर्जरा है, न भावमोक्ष है, न द्रव्यमोक्ष है, न वहां सात तत्व हैं, न वहां नौ पदार्थ हैं। न पुण्य है न पाप है, न वहां कोई मिथ्यात्व गुणस्थान है, न सासादन है, न मिश्र है, न अविरत है, न देशविरत है, न प्रमत्तविरत है, न अप्रमतविरत है, न अपूर्वकरण है, न अनिवृत्तिकरण है, न सूक्ष्म लोभ है, न उपशांत कषाय है, न क्षीण कषाय है, न सयोग केवली, न अयोग केवली गुणस्थान है। न वहां ध्यान है, न धारणा है न समाधि है। मेरा एक अनिर्वचनीय स्वरूप है जो केवल अनुभवगम्य है।

मैं ऊपर कहे प्रमाण सर्व विभावोंसे उपयोगको हटाकर एक परम सूक्ष्म शुद्ध अपने आत्माके भीतर तन्मय होता हूं। आत्माके भीतर प्रवेश होते ही सहजानंदका स्वाद आजाता है। बस, मैं इसीमें मग्न होकर परमानंदित रहता हूं।

४३—सच्चा बलिदान।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके विचारोंको बन्द कर एक कोनेमें बैठ जाता है और यह देखता है कि सिद्ध भगवान क्यों सुखी हैं। वह जानता है कि सिद्धोंके साथ किन्हीं भी कर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। न भावकर्म रागादि हैं, न द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि हैं, न नोकर्म शरीरादि हैं। वे पूर्ण निश्चल समुद्र समान हैं। क्षोभ-रहित शुद्ध भावोंके धारी हैं, अतएव वे सहजानन्द सागरमें मगन हैं। क्यों न मैं भी सिद्धके समान अपनेको भाऊँ? मैं जब निश्चय दृष्टिसे देखता हू तो अपनेको सिद्ध सम निराला एक शुद्ध द्रव्य ही पाता हूं। सच है जो सिद्ध सम निज आत्माको श्रद्धामें लाकर निःशंक ज्ञानी होकर अपनी वृत्तिको इसी प्रकारकी श्रद्धामें निरोध करता है वह शीघ्र ही सहजानंदका स्वाद पालेता है। सहजानंद आत्माका ही गुण है। जैसे मिश्रीमें मिष्टपना है, लवणमें लवणपना है, इमलीमें खट्टापना है वैसे आत्मामें सहजानंद है। सहजानंदके लिये हरएक बुद्धिमान प्राणीको अपनी आत्माकी ही गोदमें खेलना चाहिये। आत्मा ही से उत्पन्न अनंदामृतका भोजन करना चाहिये। आत्मा ही की यथार्थ गुणावलीकी मालाकी सुगन्ध लेनी चाहिये, आत्माका ही पवित्र दर्शन करना चाहिये, आत्मा ही के द्वारा होने-

वाला शुद्ध भावरूपी शब्द ज्ञानके कर्णोंसे सुनना चाहिये। आत्मा ही के द्रव्य व गुणोंका मनन करना चाहिये, आत्मा ही को अपना सर्वस्व मानकर उस आत्मा देवकी वेदीपर अपने सर्व अहंकार व ममकारकी बलि चढ़ा देनी चाहिये। अपने आपको न्यौछावर कर देना चाहिये। अपनी सम्पूर्ण शक्तिको आत्मीकरसमें डुबा देना चाहिये। जैसे समुद्रमें गोता लगाते समय समुद्रमें मानो डूब जाना होता है वैसे ही आत्मीक समुद्रमें गोता लगाते समय आत्मीक समुद्रमें मानो डूब जाना चाहिये।

सहजानन्द अपने घरकी अटूट सम्पत्ति है। अज्ञानी जीव इस सम्पत्तिका पता न पाकर वैषयिक सुखोंमें रंजायमान रहता है। वारवार दौड़कर विषयोंका सेवन करता है परन्तु उनसे तृप्ति न पाकर आकुलित होता है या इच्छित विषयको न पाकर क्षोभित होता है। पांचों इन्द्रियोंकी तृष्णामें डूबकर जो कष्ट पाता है वह वचन अगोचर है।

श्री गुरुके प्रतापसे जब इसको अपनी सहजानन्दकी सम्पत्ति दीख जाती है तब यह महान संतुष्ट होजाता है और जब भीतर जाकर आत्मभण्डारमें ध्यानसे दृष्टिपात करता है तो सहजानंदके दर्शन करके मगन होजाता है। इस मगनताके स्वादको कोई कह नहीं सक्ता। यह ज्ञानी अब आनन्दानुभवके लिये सुखसमुद्र स्वरूप अपने ही आत्माके भीतर गोता लगाता रहता है और सिद्ध समान सुख भोगता हुआ आपको किसी भी तरह सिद्धसे कम नहीं अनुभव करता है। यह सहजानंदके लाभका ही महात्म्य है।

४४–परम सूक्ष्म तत्त्व ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच–जालोंसे रहित होकर अपने भीतर जो ध्यानसे देखता है तो एक ऐसे प्रभुका दर्शन पाता है जिसके समान जगतमें कोई नहीं दीख पड़ता है। उसकी महिमा अपार है। वह अनंत गुणोंका स्वामी है। न उसमें कोई वर्ण है, न गंध है, न रस है, न स्पर्श है। न कोई शरीर है, न कोई वहां राग है, न द्वेष है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न हास्य है, न रति है, न अरति है, न शोक है, न भय है, न जुगुप्सा है, न स्त्री वेद है, न पुं० वेद है, न नपुंसक वेद है, न अनन्तानुबंधी कषाय है, न अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, न प्रत्याख्यानावरण कषाय है, न संज्वलन कषाय है, न कोई मनकी क्रिया है, न वचनकी क्रिया है, न कायकी क्रिया है। न वहां शुभोपयोग है, न अशुभोपयोग है, न पुण्य है, न पाप है। न ज्ञानावरण कर्म है, न दर्शनावरण कर्म है न वेदनीय कर्म है, न मोहनीय कर्म है, न आयुकर्म है, न नामकर्म है, न गोत्र कर्म है, न अंतराय कर्म है। न वह नारकी है, न देव है, न पशु है, न मनुष्य है, न वह संसारी है, न वह सिद्ध है, न वह बन्धा है न खुला है, न प्रमादी है, न अप्रमादी है, न वह श्रावक है, न मुनि है। न एकेन्द्रिय है, न द्वेंद्रिय है, न तेंद्रिय है, न चौंद्रिय है, न असैनी पंचेन्द्रिय है, न सैनी पंचेन्द्रिय है, न पर्याप्त है, न अपर्याप्त है, न सूक्ष्म है, न बादर है, न गुण है, न गुणी है, न पर्याय है, न पर्यायवान है। वह तो एक अनिर्वचनीय, मनसे भी अगोचर, बड़ा ही सूक्ष्म,

स्वानुभव-गोचर पदार्थ है जिसमें सर्व विश्व झलकता है, तौभी वह अपने आपमें है। नाम तो जिसका कुछ नहीं है परन्तु नामसे इसे ही परमात्मा, ईश्वर, प्रभु, निरंजन, निर्विकार, अरहंत, सिद्ध, कृतकृत्य, शुद्ध, शंकर, विष्णु, महेश, ब्रह्मा, सुगत, त्रिलोचन, धर्मस्वामी, स्वयंभू, परमशांत, परमानन्दी, समयसार, महावीर, अजितनाथ, चन्द्रप्रभु, मुनिसुव्रत, पार्श्वनाथ, **आदिनाथ** कहते हैं। उसको पहचानना मनकी भी शक्तिसे बाहर है। सहजानंद कहीं और है नहीं। अपना सहजानंद अपनेमें है, परका सहजानंद परके भीतर है। अतएव सहजानंदके लाभके लिये उस सूक्ष्म तत्वके भीतर प्रवेश करनेकी जरूरत है जहां मन वचन काय जा नहीं सके। इसका उपाय यही है कि पहले तो यह गाढ श्रद्धा करे कि मेरा स्वभाव शुद्ध सिद्ध परमात्मावत् है। ऊपर लिखे कोई पर संयोग मेरे साथ नहीं हैं। बुद्धिपूर्वक सर्व ही भावोंको हटाकर बलात्कार भेदविज्ञानके प्रतापसे जब भीतर घुसकर देखा जाता है और दृष्टि परसे बिलकुल छूटकर आप हीसे आपमें रमण करती है तब यकायक आत्मप्रभुका दर्शन होजाता है। आप ही सहजानन्दका समुद्र है। अज्ञानसे अपने भीतर आनन्द समुद्र होते हुए भी हम उसे देख नहीं पाते हैं। जब आत्मप्रभुके दृढ़ ज्ञान पूजन ध्यानके द्वारा आत्मानन्द झलकने लग जावे तब ही समझना चाहिये कि मैंने सहजानंद समुद्रको पा लिया है, अनादिकालका मेरा ताप शांत होगया है।

४५-स्याद्वादसे स्वभाव लाभ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालसे रहित होकर एकान्तमें

बैठकर यह विचारता है कि क्या मेरा कोई साथी है ? तब उसके भेदविज्ञानमें झलकता है कि मैं तो बिलकुल अकेला हूं । मेरा कोई साथी नहीं है । मेरा द्रव्य मैं हूं, मैं ही अपने अभेद रूपसे रहनेवाले गुण व पर्यायोंका पिंड हूं, और कोई मेरा साथी नहीं । मेरे सिवाय अनंत जीव द्रव्य, परमाणुसे स्कंध पर्यन्त अनंत पुद्गल, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, कालके असंख्यात अणु व आकाश द्रव्य कोईसे मेरा सम्बन्ध नहीं है ।

द्रव्यकी अपेक्षा सब भिन्न हैं, क्षेत्र अपेक्षा जो देखता हूं तो मेरा असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र मेरा मेरे ही में है । मेरे क्षेत्रमें पर-क्षेत्रकी सत्ता नहीं है । ऊपर कथित सर्व द्रव्योंका क्षेत्र निराला है । मैं जहां हूं वहां अनंतानंत पुद्गल परमाणु व स्कन्ध हैं तौ भी उनका क्षेत्र जुदा है, मेरा क्षेत्र जुदा है । कालकी अपेक्षा मेरा समय २ परिणमन मेरे ही में है । मेरेमें अन्योंका कुछ भी परिणमन नहीं है ।

यद्यपि सोने चांदीके मिले हुए पदार्थमें सोना चांदीका साथ साथ परिणमन देखा जाता है तौभी सोना चांदीका परिणमन भिन्न ही है, इसी तरह मेरे साथ बैठे हुए अनंत कार्माण वर्गणाओंका, तैजस वर्गणाओंका व आहारक वर्गणाओंका परिणमन मेरे परिणमनके साथ २ होरहा है तथापि उनका परिणमन उनमें है, मेरा परिणमन मुझमें है । भावकी अपेक्षा देखता हूं तो मेरा शुद्ध परिणामिक जीवत्व भाव या ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त आदि भाव मेरा मेरेमें है । मेरे इन भावोंके साथ अनंत संसारी व सिद्ध

जीवोंके भावोंका, पुद्गलके स्पर्शादि गुणोंका व धर्म अधर्म काल व आकाशके गुणोंका कोई सम्बन्ध नहीं है । बस, मैं तो बिलकुल अकेला ही हूं । कोई साथी है ही नहीं । यदि ध्यानसे देखता हूं तो अपने भीतर अनेक गुणोंको व्याप्त पाता हूं । इन गुणोंका स्वभाव एक दूसरेसे भिन्न है । तथापि मैं ही इन सबका आधार हूं । मेरेसे भिन्न इनकी सत्ता नहीं है । अपनेसे बाहर मैं एक भी गुणको नहीं देखता हूं । मैं ऐसा देखता हूं कि वे गुण अलग २ अलमारीमें खिलोनेकी तरह चुने हुए हैं किन्तु सबके सब व्याप्त हैं । हरएकमें सब हैं ।

क्योंकि हरएक गुणका स्वभाव जुदा २ है । इसलिये जब मैं हरएक गुणका दर्शन करना चाहता हूं तो अलग २ एक एकको देखता हूं परन्तु तब मुझे एकका दर्शन होता, दूसरोंका दर्शन नहीं होता । इस भिन्नताको मिटानेके लिये और सब गुणोंका एक मिश्रित स्वाद एक ही समयमें लेनेके लिये मैं अपनी विशाल अभेद दृष्टिमें अपने अभेद खण्डभावको ही देखता हूं । उसीका स्वाद अपने चेतना गुणद्वारा लेता हूं, ज्ञान चेतना रूप होजाता हूं । बस एकदमसे सहजानंदके सागरमें मगन होजाता हूं । असंग, एकांत, सहज स्वभावका रमण ही सहजानंदका स्वाद देता है । है तो अवक्तव्य, परन्तु जो स्वादका अनुभव नहीं कर रहा है वह वचनोंसे स्मरण द्वारा कथन कर स्वपरको रंजायमान करता है । यह क्रिया भी उसी सहजानंद सोपानपर लेजाकर खड़ा कर देती है । धन्य है सहजानंद जो परम तृप्तिका बीज है

४६–तारण तरण जहाज।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच जालसे रहित होकर एकांतमें बैठकर सहजानंदका लाभ करनेके लिये निज आत्माकी गुप्त गुफामें विश्राम करता है। मन, वचन, कायको पूर्णपने थिर कर लेता है। उपयोगको पांच इन्द्रिय व मनके द्वारा वर्तनसे हटा लेता है तथा आत्माके स्वरूपमें जोड़ देता है। श्रुतज्ञानके बलसे जैसा आत्माका स्वरूप समझा है उसी स्वरूपमें बारबार लय होनेका अभ्यास करता है। इसी अभ्याससे उसे सहजानंदका लाभ होता है। सहजानंद जिस भंडारमें है वह बिलकुल अभेद है। वहां कोई संकल्प विकल्प मनके धर्म नहीं हैं, न वहां वचनके सत्य असत्य, उभय व अनुभय प्रयोग हैं, न वहां कायका हलन चलन वर्तन है। इन तीन गुप्तिके किलेमें जो बैठ जाता है वह निश्चिंत होकर सहजानंद रसका पान करता है।

सहजानन्द परम स्वाधीन है। अपने ही आत्माका अपूर्व रस है। आत्मासे बाहर जानेपर इसका लाभ नहीं होता है, क्योंकि जो बाहर है वह जानने योग्य है, आत्मा सर्वका ज्ञाता है।

छः द्रव्योंमें प्रधान द्रव्य आत्मा है। यह ज्ञाता भी है, ज्ञेय भी है। और द्रव्य मात्र ज्ञेय है, ज्ञाता नहीं है। आत्माका नाम नहीं, आत्मामें भेद नहीं, आत्मामें बन्ध नहीं, आत्मामें मोक्ष नहीं, आत्मामें रस नहीं, गन्ध नहीं, वर्ण नहीं, स्पर्श नहीं। आत्मा अमूर्तीक है। मूर्तीक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियां हैं। उनके द्वारा आत्मा ग्रहणमें नहीं आसक्ता है। मन भी उनही बातोंको विचारता है

जो इन्द्रियोंके द्वारा देखे हैं व सुने हैं। इसकी पहुंच भी आत्मापर नहीं है। आत्माकी तरफ तो आत्माका ही एक शुद्ध उपयोग पहुंच सक्ता है, और कोई जा नहीं सक्ता। कोई दिखलानेवाली वस्तु नहीं। उसका पता कैसे मालूम हो कि यह आत्मा है। जबतक दृढ़तापूर्वक आत्माके शुद्ध स्वरूपका और पुद्गल कर्मका भेदविज्ञानका विचार नहीं होता तबतक आत्माकी तरफ पहुंच नहीं सक्ता। परन्तु भेदविज्ञानमें ऐसी ताकत है कि जैसे सुनारकी मिट्टीमें पड़ा हुआ सोना पहचान लिया जाता है उसीतरह भेदविज्ञानकी सूक्ष्मदृष्टिसे आत्मा आत्मारूप और अनात्मा अनात्मारूप दिखाई देता है। जो स्याद्वादका अनुभव लेकर स्वचतुष्टयमें मगन होता है व पर चतुष्टयको पर जानकर मोह नहीं करता है वह निरंतर आत्मस्वरूपका मनन करता है। मनन करते समय मनकी सहायता है परन्तु वह मनके मरणके लिये ही है।

सहजानंद ही वह भांग है जिसमें अपूर्व नशा है। जो सहजानंदरूपी भांगको पीकर स्वानुभवके नशेमें चूर होजाता है वही सच्चा मोक्षरूपी स्त्रीका भक्त है। वही साधक है, वही यति है, वही मुनि है, वही अनगार है, वही श्रावक है, वही ऐलक है, वही क्षुल्लक है, वही ब्रह्मचारी है, वही महाव्रती है, वही अणुव्रती है, वही सम्यग्दृष्टी है, वही उपशम सम्यक्ती, वही क्षयोपशम सम्यक्ती, वही क्षायिक सम्यक्ती है। वही उपासक है, वही पूजक है, वही श्रोता है, वही वक्ता है, वही जिनभक्त जैनी है, वही त्यागी है, वही वैरागी है, वही शिवभक्त है, वही विष्णुभक्त है, वही बुद्धभक्त है, वही ईश्वर-

भक्त है, वही जगदंबा जिनवाणीदेवीका भक्त है। वही सत्य तत्व ज्ञाता है, वही शास्त्री है, वही पंडित है, वही शिष्य है, वही गुरु है, वही वीर है, वही धीर है, वही संवररूप है, वही निर्जरारूप है, वही समयसार है। जो इस सहजानंदके नशेमें चूर होजाता है वह शिवनारीको वर लेता है। धन्य है सहजानंदका प्रताप, यही वास्तवमें तारणतरण जहाज है।

४७-अनंत शक्तिधारी द्रव्य।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालोंसे रहित होकर जब अपने आत्माकी शक्तिको विचार करता है तो उसे पता चलता है कि जैसे परमाणुमें अनंत गुण पर्याएं हैं वैसे ही आत्म द्रव्यमें हैं। एक परमाणु जब सूक्ष्मसे सूक्ष्म जघन्य स्निग्ध व रूक्ष गुणके अविपाक प्रतिच्छेदरूप अंशको रखता है, तब वह किसीसे बंधको प्राप्त नहीं होता है परन्तु जब उसी परमाणुमें अंशकी अधिकता होती है तब वह दूसरे परमाणुओंसे मिलकर अनेक आकार रूप व अनेक प्रकार रूप होजाता है। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जावे तो एक परमाणुमें आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्माण वर्गणा, भाषा वर्गणा व मनोवर्गणाको आदि लेकर अनेक प्रकारकी वर्गणाओंके रूपमें परिवर्तन होनेकी शक्ति है। विश्वमें पुद्गलके जितने प्रकारके गुण व अवस्थाएं दिखलाई पड़ती हैं उन सबकी शक्ति एक परमाणुमें होती है।

भूत भविष्य वर्तमानकाल सम्बन्धी जितनी अवस्थाएं पुद्गल (Matter) की होसक्ती हैं उन सर्व रूप होनेकी अनंत शक्ति

एक परमाणुमें है। यदि शक्ति न होवे तो कभी भी परमाणुका नाना रूप परिणमन नहीं होवे। सूर्य, चन्द्रमा व नक्षत्रोंके विमान, नानाप्रकार माणिक पन्ना, हीरा, रत्न, नानाप्रकार पृथ्वी आदि छः कायोंके शरीर, इन सब रूप होनेकी शक्ति परमाणुमें है। वैभाविक शक्तिके कारण विभाव पर्यायोंमें परमाणु नाच रहा है। उसी तरह इस जीवमें निगोद पर्यायसे लेकर सिद्ध होनेतक जितनी भी प्रदेश संचार रूप व्यंजन पर्यायें होती हैं व जितनी भी गुण परिणमनरूप अर्थ पर्याएं होती हैं, उन सबकी परिणमन शक्ति हरएक आत्मामें है। वैभाविक शक्तिके कारण एक आत्मा विश्वकी अनंतपर्यायोंको धारण करता है। जैसे परमाणु अन्य परमाणुमें मिलकर विभाव रूप हो नानाप्रकारका उदय दिखाता है वैसे ही आत्मा कर्मोंके साथ अनादिकालसे मिला हुआ नाना प्रकारके दृश्य दिखाता है।

यदि शुद्ध निश्चयसे परमाणुको देखा जावे तो वह शुद्ध व अबंध है वैसे ही शुद्ध निश्चयसे यदि आत्माको देखा जावे तो वह भी शुद्ध व बंधरहित है। उसमें कोई भी संसारका नाटक नहीं है।

जिसको सहजानंदका पान करना हो उसके लिये यही उचित है कि वह सर्व विभावोंसे मुख मोड़कर एक शुद्ध आत्मीक स्वभावको ही देखे। उस शुद्ध दर्शनमें न राग है न द्वेष है, परम समताभाव है। जहां समताभाव आजाता है वहां ही **सहजानन्द**का स्वाद आता है। वहां ही परमशांति है। वहां ही उपयोग अपनी ही आत्म सत्तापर उपयुक्त है। मैं अब अपने शुद्ध स्वभावको देखता हुआ सहजानंदका स्वाद ले रहा हूं।

४८–सच्चा योगी ।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकारके प्रपंच भावोंसे अलग रहकर सहजानंद पानेका उपाय विचार करता है तब उसे यह विदित होता है कि जिस मनसे मैं विचार कर रहा हूं कि मैं सहजानंदको पाऊँ वह मन ही सहजानन्दमें बाधक है । सहजानंद आत्माका स्वभाव है । जब बाहरमें वचन व काय थिर होते हैं भीतरमें मन निश्चल होता है तब जैसे निश्चल व निर्मल समुद्रके भीतर पड़ा हुआ हीरा चमकता है वैसे ही उपयोगकी भूमिकामें आत्माका स्वभाव चमकता है । उस स्वभावमें अनुरक्त होनेसें, तन्मय होनेसे, लीन होनेसे सहजानंदका स्वाद उसी तरह आजाता है जैसे ईखके चबानेसे मिष्टताका स्वाद, नीमके चबानेसे कड़वा स्वाद, इमलीके खानेसे खट्टा स्वाद, आंवलेके खानेसे कषायला स्वाद, लवणके खानेसे नमकीन स्वाद आजाता है । सहजानंदका भोगी वही होसक्ता है जो योगी है ; योगी वही है जिसने मन वचन काय तीनों योगोंको रोककर अपने उपयोगको अतीन्द्रिय व मनरहित स्वभावमें संयोग कर दिया हो । जो सहज ही विना किसी परिश्रमके सहज स्वभावमें रमण करे वही योगी है । योगीका ध्यान एक सहज आत्मस्वभाव ही पर होना चाहिये । योगी ही सदा सहजानंदका भोगी है, इसीसे सर्व ही भोगियोंके द्वारा चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र, नारायण, बलदेव, प्रतिनारायण, महामंडलेश्वर, राजा, महाराजा, धनिक, निर्धन, कृषक, शिल्पकार आदिके द्वारा वंदनीय है, पूज्यनीय है । क्योंकि ये सर्व भोगी इन्द्रिय सुखको पाते हैं सो भी कभी कभी परन्तु वह ठहरता

नहीं है न उससे तृप्ति होती है। इसलिये वे सदा संतापित रहते हैं, वे अपने सामने योगियोंको सुखी पाते हैं। जो कोई तत्वज्ञानी गृहस्थ आत्मसंवेदी हैं उनको यद्यपि आत्मानंदका या सहजानंदका स्वाद आता है तौभी वे गृहस्थकी चिन्ताओंसे व्याकुल होते हुए उस रसका सदा पान नहीं कर सक्के। इसलिये ऐसे ज्ञानी भोगी भी योगियोंको ऊँचा समझकर उनको निरंतर नमस्कार करते हैं।

सहजानन्द वह अमृत है जिसके पीनेसे जीव अमर होजाता है। यही उन कर्मोका क्षय करता है जो जन्म, जरा, मरणके कारण हैं। यही मिथ्यात्वीको सम्यक्ती, यही सत्यक्तीको देशव्रती, यही देशव्रतीको महाव्रती, यही महाव्रतीको क्षपकश्रेणी आरूढ़, यही क्षपकको क्षीणमोही, यही क्षीणमोहीको सयोग केवली जिन, यही सयोग केवली जिनको अयोग केवली जिन, यही केवली जिनको सिद्ध भगवान बना देता है। सहजानंदका लाभ ही जिनधर्म है। यही मोक्षमार्ग है। जो मानव इस अमृतका पान करना चाहे उसे उचित है कि वह अपनी आत्मीक गुफामें प्रवेश करके उसीमें गुप्त हो बैठ जावे। वह देखेगा कि वह सहजानंदके सागरमें डूब गया।

४९–अमृतसागर।

एक ज्ञानी आत्मा एकांतमें बैठकर जगतका दृश्य देखता है, पांचों इन्द्रियोंकी कामनाऐं दोड़ने लगती हैं। जो जो विषय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कानको अच्छे लगते हैं उनपर राग करता है; जो २ विषय अच्छे नहीं लगते हैं उनपर द्वेष कर लेता है। राग पैदा करनेवाले विषयोंकी प्राप्तिका यत्न करता है। यदि प्राप्त होजाते

हैं तो हर्ष मान लेता है। यदि प्राप्त नहीं होते हैं तो महान् कष्ट पाता है। प्राप्त विषय जब बिगड़ जाते हैं तब महान् दुःख भोगता है। जब रोगी, शोकी, निर्बल, वृद्ध होनेसे प्राप्त विषयोंको भोग नहीं सक्ता है तब क्लेशित होता है। इष्ट विषयोंको भोगनेमें तृप्ति नहीं होती। तृष्णाका यह दाह जितना जितना भोगों उतना उतना बढ़ता जाता है। यकायक शरीर छूट जाता है तब तृष्णातुर मरकर खोटी गतिमें चला जाता है।

कोई कोई गतिमें पराधीन हुआ महान दुःख भोगता है। इस तरह जबतक रागद्वेषका झगड़ा नहीं मिटता है तबतक प्राणी दुःखोंकी परिपाटीसे बच नहीं सक्ता। रागद्वेष क्यों होता है? वास्तवमें ये आत्माके स्वाभाविक भाव नहीं हैं। मोहनीय कर्मका संयोग इस जीवके साथ है। बाहरी कारण पानेपर जब उसका उदय आता है तब ही विभाव भाव होते हैं। इनके मेटनेका उपाय वीतराग भावमें रमण करना है। यह वीतराग भाव अपने ही आत्माका स्वभाव है। आत्माको स्वभावसे परमात्मा ही देखना, जानना, श्रद्धा करना व ध्याना चाहिये। भेदविज्ञान या विवेकसे जब विचार किया जाता है तब यह आत्मा कर्मरहित, विभावरहित, शरीररहित, शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा, परम शांत व परमानंदमई एक शुद्ध पदार्थ झलकता है। जो कोई वीतराग भावका प्रेमी है उसको अपना उपयोग अपने ही आत्माके स्वभाव पर लेजाना चाहिये।

बलात्कार मनको सर्वपरसे रोकना चाहिये और आत्मापर बिठाना चाहिये, यही आत्मध्यानका अभ्यास है। सहजानन्द भी

आत्माका स्वभाव है। जब कभी आत्मा आत्मस्थ होता है, आप आपमें रम जाता है, तब ही उसे सहजानंदका स्वाद आजाता है। आत्मध्यान व सहजानंदके प्रकाशका एक ही काल है। यही मोक्ष-मार्ग है। यही आत्माके कर्ममल काटनेका मसाला है। जो कोई आत्माके स्वाधीन पदके इच्छुक हैं उनको सर्व प्रयत्न करके सहजा-नंदके स्वादमें मगन होना चाहिये। सहजानंद अमृतसागर है। जो इसमें स्नान करता है अजर अमर व शुद्ध होजाता है, जन्म-मरणके व्यवहारसे छूट जाता है और सहजानन्दी होकर अपनेको जीवन्मुक्त अनुभव करता है।

९०-गुप्त मोक्षमार्ग।

एक ज्ञानी जीव सर्व प्रपंचसे अलग हो सहजानन्दके लाभके लिये प्रयत्नशील होता है, तब वह केवल अपने आत्मा हीके भीतर प्रवेश करता है, क्योंकि सहजानंद एक आत्मामें ही है—आत्माका स्वभाव है। जब आत्मामें आत्माका प्रवेश होता है तब मन व इन्द्रियोंसे उपयोगको अलग करना पड़ता है। जब उपयोग आत्माके शुद्ध स्वभावमें श्रद्धापूर्वक निश्चल होता है उसी समय आत्माके रसका स्वाद आता है। यही सहजानंदका लाभ है। सहजानंदका जब लाभ होता है तब सर्व विचारकी धाराएं रुक जाती हैं, आत्माका भी विचार बंद होजाता है कि यह द्रव्य है या गुणी है, इसके साधारण गुण क्या है, विशेष गुण क्या है, इसकी शुद्ध पर्यायें क्या है, क्या क्या अशुद्ध पर्यायें होती हैं। उसका स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव क्या है। उसमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व

परभावका अभाव है। निश्चयनयसे आत्मा क्या है, व्यवहारनयसे क्या है, इत्यादि सर्व मन द्वारा होनेवाले श्रुतज्ञानके विकल्प बन्द होजाते हैं। ठीक तो है—जब स्वरूप–मग्नता हो, आत्माके शुद्ध ज्ञानजलमें निमग्नता हो, निर्वाणरूपी प्रियतमाका दर्शन किया जारहा हो, तब विचार कैसा, विकल्प कैसा, तर्क कैसा, प्रमाण और नयका विचार कैसा, स्याद्वादका तर्क कैसा। ये सब बातें सहजानंदके स्वाद प्राप्त करनेमें बाधक हैं।

सहजानंदका लाभ ही धर्मध्यान है, यही शुक्ल ध्यान है, यही मोक्षमार्ग है, यही भाव संवर है, यही भाव निर्जरा है, यही भाव मोक्ष है, यही योगाभ्यास है, यही सम्यग्दर्शन है, यही सम्यग्ज्ञान है, यही सम्यक्चारित्र है, यही साधक भाव है, यही साध्य भाव है, यही श्रावकाचार है, यही यत्याचार है, यही धर्म है।

जहां सहजानंदका लाभ नहीं वहां धर्म नहीं, सम्यक्त नहीं सम्यग्ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं, संवर नहीं, निर्जरा नहीं, योग नहीं, धर्मध्यान नहीं, शुक्लध्यान नहीं। वास्तवमें मोक्षमार्ग भी गुप्त है, मोक्ष भी गुप्त है। दोनों ही मन व इन्द्रियोंसे अगोचर हैं।

सहजानंदका लाभ ही मानव जन्मका सार है। इस आनंदके प्रेमसे उत्साहित होकर गृह जंजालके आरम्भकी चिंताको बाधक समझकर तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, महामण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, महाराजाधिराज, महाराजा, राजा, श्रेष्ठी आदि व बड़े २ धनी व व्यापारी आदि सर्व परिग्रह त्यागकर यथाजात रूपधारी निर्ग्रंथ होजाते हैं। और एकांत, उपवन, गिरि, गुफा आदिका सेवन

करके वहां कोलाहल रहित, क्षोभ रहित वातावरणमें तिष्ठकर आत्मीक गुफामें प्रवेश करते हैं। और स्वानुभव द्वारा सहजानंदका रस पान करते हैं। धन्य है सहजानंद ! जो अनादिकालकी इन्द्रिय-सुखकी तृष्णाको बुझा देता है, जो राग द्वेष, मोहकी उपाधियोंको हटा देता है, जो कर्मबंधके कारणोंको शमन कर देता है, जो तत्वज्ञानीको मोक्षकासा लाभ इसी जीवनमें ही प्रदान करता है। धन्य है सह-जानंद ! तू मेरे भीतर सदा प्रवाहित रहो। मैं तुझ हीमें गोते लगाकर परम सुखी होऊँगा।

९१–श्री महावीर प्रभुकी भक्ति।

एक नामका स्मरण आते ही भावोंमें वीरता छाजाती है, कर्म-शत्रुओंके जीतनेका व रागद्वेष मोहादि भावोंके विजय करनेका उत्साह उमड़ आता है। वह पवित्र नाम है **श्री महावीर भग-वान्**। वीरोंके वीरने उस कामभावको जीता था जिसके वश चक्र-वर्ती समान सम्राट् होजाते हैं, जिसको वश करना बड़ा ही दुर्लभ है। पांचों इन्द्रियोंकी कामना ही संसार-भ्रमणका व सर्व संकटोंका मूल है। **श्री वीर प्रभुने** इस कामभावको आत्मध्यानकी अग्नि जलाकर भस्म कर डाला था। जिस अग्निको जलाया था उसका तेज बड़ा ही आनन्दप्रद है। सहजानंदका अपूर्व तेज उसी समय चमक जाता है जब उपयोग सर्व ओरसे हटकर अपने ही आत्माके भीतर प्रवेश कर जाता है और वहीं विश्रांति पालेता है।

श्री महावीरप्रभुने परमवीरताके साथ ध्यानस्थ होकर उन चार घातीय कर्मोंका ही क्षय कर डाला जो अनंत सहजानंदके प्रकाशमें

बाधक थे । परमात्मा वीर सदाके लिये सहजानन्द सागरमें निमग्न होजाते हैं—उसी तरह वास करते हैं जैसे महामच्छ दीर्घ शरीरधारी स्वयंभूरमण समुद्रमें वास करता है, उसीका जल पीता है, उसीमें मगन रहता है वैसे ही श्री वीर प्रभुके भीतर **स्वयंभूरमण** समुद्र वहता है अर्थात् **स्वयं ही उत्पन्न आत्मरमण** रूपी स्वानुभव समुद्र वहता है । इसीकी अनुभूतिरूपी जलका स्वाद सहजानंदमय है । वे वर्द्धमान भगवान इसी समुद्रमें सदा वास करते हुए स्वानुभूति द्वारा सहजानंदके अमृतका स्वाद लेते हैं ।

षट्रसके स्वादसे व भवभोगोंके अथिर स्वादसे सर्वदाके लिये विमुख होगए हैं। इसी अपूर्व वीरत्वके कारण प्रभुका आत्मा पूज्यनीय है, वंदनीय है, मननीय है, जपनीय है, अनुकरणीय है । पूजा, नमस्कारादिसे बढ़कर काम अनुकरणका है ।

मैं भी वीरकी भांति निर्ग्रंथ होजाता हूं । सिवाय अपने ही द्रव्य गुण पर्यायके किसीको भी नहीं अपनाता हूँ । सर्व परके मोहकी ग्रंथिको काट डालता हूं । इंद्रियोंके व मनके द्वारा देखना ही बन्द करता हूं । सर्वसे रागद्वेष हटाता हूं । निश्चित होकर आप ही अपनेको अपनेसे अपने लिये अपनमेंसे अपनेमें देखता हूं । आपहीका स्वाद लेता हूं । आप हीमें रमण करता हूं । आपहीको अपना सर्वस्व अर्पण करता हूं । इसी रीतिसे स्वानुभवकी अपूर्व सम्पदाको प्राप्त करता हुआ परम शिरोमणि **सहजानन्द**का स्वाद पाकर परम तृप्त होजाता हूं । अपने ही ब्रह्मरूपी **महावीर**की निश्चय आराधनामें जमकर निरन्तर सहज सुख पाता हूं ।